* ओ३म् *

अथ वेदाङ्गप्रकाशः

तत्रत्यो द्वितीयो भागः

सन्धिविषयः

पाणिनिमुनिप्रणीतायामष्टाध्याय्यां प्रथमो भागः

श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीकृतव्याख्यासहितः

पठनपाठनव्यवस्थायां चतुर्थं पुस्तकम्

अजमेरनगरे वैदिक-यन्त्रालये मुद्रितः

सृष्ट्यब्दा : १,९६,०८,५३,०९९

त्रयोदश वार
३०००

विक्रमीय संवत् २०५५
[सन् १९९९ ई.]

मूल्य १५ रुपये

प्रकाशक -
वैदिक पुस्तकालय,
दयानन्द आश्रम, अजमेर

मुद्रक -
वैदिक यन्त्रालय,
केसरगंज, अजमेर

अब हमारा दयानन्द परिक्रम का व्रत परिसमाप्त हो गया। संन्यासी परमहंसों के गंगापरिक्रम के समान दयानन्दगंगा के परिक्रम का कार्य शेष हो गया। परमहंसगण गंगा की उत्पत्ति भूमि से आरम्भ करके गंगा के किनारे किनारे विचरते हुए गंगासागर तक गमन करके अपने परिक्रम का कार्य समाप्त करते हैं। हमने भी दयानन्द के जन्मगृह से आरम्भ कर उनकी श्मशानभूमि तक पर्यटन किया है। टंकारा से, जिसके जीवापुर मुहल्ले के जिस घर में उन्होंने जन्म लिया था, आरम्भ करके अजमेर के तारागढ़ के नीचे अश्रुपूर्ण नेत्रों से उस निदारूण श्मशानभूमि को देख कर आये हैं जहां उस भारत के सूर्य की दिव्य देह को चितानल ने कुछ मुट्ठी भर भस्म में परिणत कर दिया था। जैसे गंगा परिक्रमकारी जन गंगा के दैर्ध्य, गंगा के विस्तार, गंगा की विशालता, गंगा की भीषणता, गंगा के आवेग, गंगा के आवर्त, गंगा के क्षोभ, गंगा की तरंग, गंगा की कल्लोल और गंगा के हिल्लोल को देखते हैं, वैसे ही हमने भी दयानन्द गंगा का सब कुछ देखा है। इसके प्रत्येक तरंग निक्षेप पर दृष्टि दी है। कोई कोई संन्यासी कहते हैं कि हरिद्वार से आरम्भ करके गंगासागर तक पर्यटन करने में प्राय: तीन वर्ष लगते हैं परन्तु हमने दयानन्दगंगा के परिक्रम में प्राय: पन्द्रह वर्ष काटे हैं अत: दयानन्द हरिद्वारवाहिनी गंगा की अपेक्षा कुछ दीर्घतर है, कुछ विशालतर है। संन्यासी परमहंसगण अपने विश्वास में गंगा परिक्रमण वा नर्मदापरिक्रमण से कुछ न कुछ पुण्यार्जन करते हैं। पाठक, तो क्या हमने दयानन्द गंगा परिक्रमण करके कुछ पुण्यार्जन नहीं किया है ?

– देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

आर्यसमाज के नियम

१. सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदिमूल परमेश्वर है ।

२. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है ।

३. वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है । वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना ।

७. सब से प्रीतिंपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये ।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये ।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये ।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें ।

दयानन्द सरस्वती द्वारा रचित (मुद्रित) ग्रन्थों का विवरण

क्र. सं.	नाम ग्रन्थ
१.	संध्या
२.	भागवतखण्डन अपर नाम पाखण्डखण्डन
३.	अद्वैतमतखण्डन
४.	सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण)
५.	सत्यार्थप्रकाश (द्वितीय संस्करण)
६.	संध्योपासनादि पञ्चमहायज्ञविधिः
७.	पञ्चमहायज्ञविधिः (संशोधित)
८.	वेदान्तिध्वान्तनिवारण
९.	वेदविरूद्धमतखण्डन
१०.	शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण
११.	आर्याभिविनयः
१२.	संस्कारविधिः
१३.	संस्कारविधिः (द्वितीय संस्करण)
१४.	वेदभाष्यम् (नमूने का अंक)
१५.	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
१६.	ऋग्वेद भाष्य (७/६२/२ तक)

महर्षि दयानन्द सरस्वती

* ओ३म् *
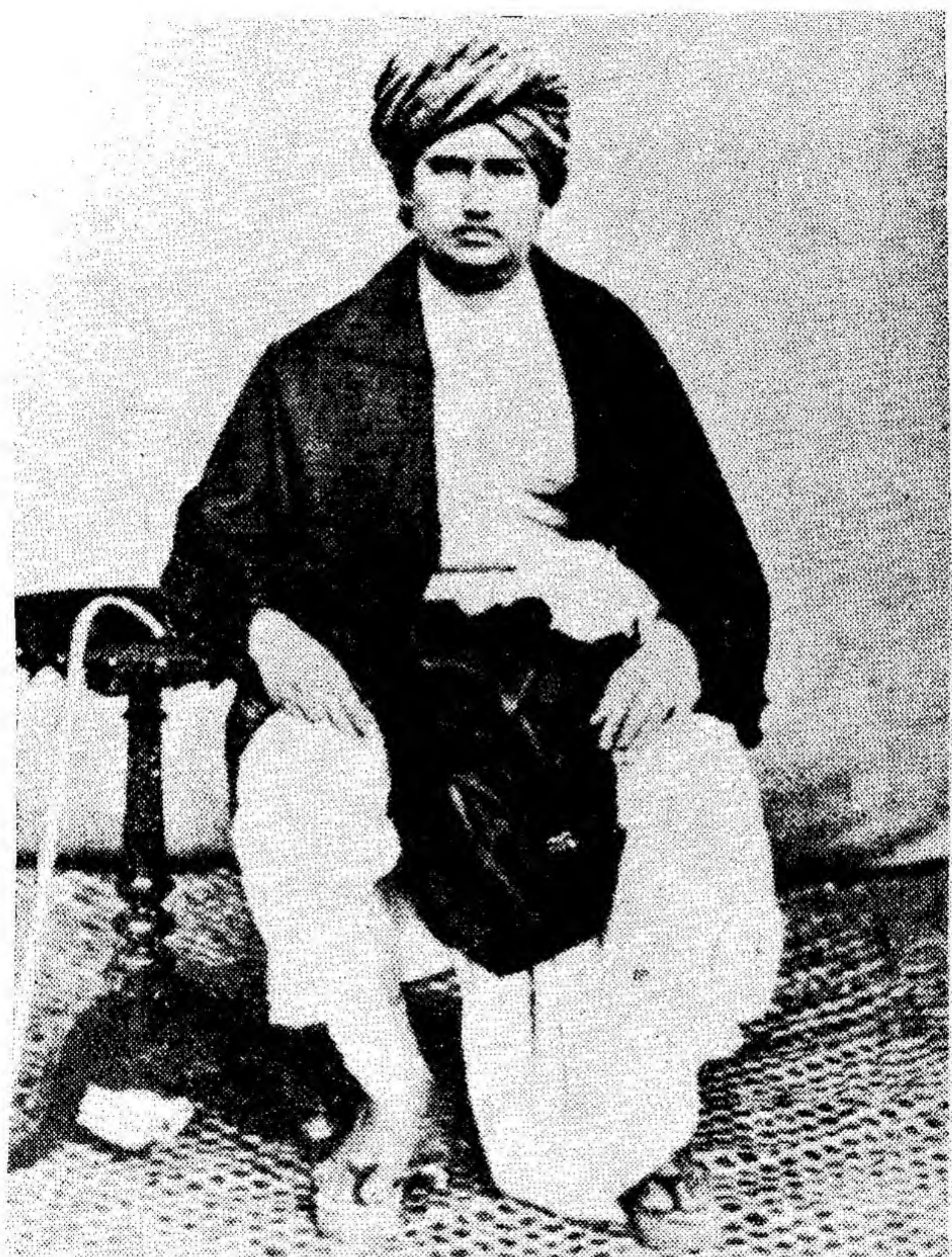
भूमिका

यह सन्धिविषय व्याकरण का प्रथम भाग है । मैनें यह पुस्तक इसलिये बनाया है कि जिससे व्याकरण में जितना सन्धि का विषय है, उसको पढ़नेहारे सुख से समझ लेवें । व्याकरण का यही प्रथम विषय है कि जिसमें अच् के स्थान में हल्, हल् के स्थान में अच् और हल् के स्थान में हल् और अच् के स्थान में अच् भी हो जाते हैं । बिना सन्धि-ज्ञान यह बात समझ में कभी नहीं आ सकती । इसके बिना जो-जो शब्द का प्रथम और पश्चात् स्वरूप होता है, वह-वह समझ में कभी नहीं आ सकता । इसके बिना पदार्थ-ज्ञान और वाक्यार्थज्ञान क्योंकर हो सकता है ? जब तक यह सब नहीं होता, तब तक मनुष्य का अभीष्ट प्रयोजन भी प्राप्त नहीं हो सकता ।

इस ग्रंथ में लोक और वेद का विषय सम्पूर्ण रक्खा है, परन्तु पूर्वापर के स्थान में जो आदेश जिस-जिस नियम से होते हैं, वह-वह इसी ग्रंथ से समझ लेने चाहियें । और जो जो परिभाषा महाभाष्यस्थ हैं, उन सब की व्याख्या, उदाहरण, प्रत्युदाहरणसहित **'पारिभाषिक'** ग्रन्थ में लिखी है, क्योंकि जो सन्धिविषयादि व्याकरणविषय के ग्रन्थ क्रम से लक्ष्य पर सब सूत्र घटा कर बनाये हैं, जिससे पढ़ने पढ़ानेहारों को कुछ भी क्लेश न हो । इसलिये जो कोई

इन ग्रन्थों को पढ़ें वा पढ़ावें वे सब निम्नलिखित रीति से पठनपाठन करें और करावें ।

जहां जहां एक उदाहरण वा प्रत्युदाहरण लिखा है, उसके सदृश दूसरे भी उदाहरण प्रत्युदाहरण ऊपर से पढ़ते पढ़ाते जायें कि जिससे शीघ्र ही पूर्ण बोध हो जाय । इसमें तीन प्रकरण हैं- एक संज्ञा, दूसरा परिभाषा, तीसरा कार्य । इनमें से 'संज्ञा' उसको कहते हैं कि जिसे थोड़े परिश्रम करके महालाभ होवे । 'परिभाषा' उसको कहते हैं कि जो संज्ञादि सूत्रों के विषयों की सहायक होकर उसके विषय को निर्दोष करके परिपूर्ण कर देवे । 'कार्य' उसको कहते हैं कि जिससे यथायोग्य शब्दों का साधुत्व किया जाता है। इन तीनों विषयों को जो कोई ठीक-ठाक समझ लेगा उसको अग्रस्थ 'नामिक' आदि ग्रन्थों को शीघ्र उपस्थित करके वेद और लौकिक ग्रन्थों का भी बोध अनायास से होगा ।

इस ग्रन्थ में जो सूत्रों के आगे अंक हैं वे तो इसी ग्रन्थस्थ सूत्रों की संख्या जनाने के लिये हैं, और अ. संकेत के आगे जो तीन अंक लिखे हैं, उनमें प्रथम अंक से अध्याय, दूसरे से पाद, तीसरे से सूत्र की संख्या समझी जाती है ।।

दयानन्द सरस्वती

नोट - इस ग्रन्थ में सर्वत्र पादटिप्पणियां व सूत्र-संख्या-शोधन तथा ऐसे [ ] कोष्ठकों में दिये पाठ सम्पादकीय हैं ।

।। ओ३म् ।।

सच्चिदानन्दात्मने नमः

अथ सन्धिविषयः

यह पठनपाठन की व्यवस्था में चौथा पुस्तक है । **'सन्धि'** उसको कहते कि जिसमें पूर्वापर वर्णों को मिलाकर पद और वाक्यों का उच्चारण करना होता है । इस ग्रन्थ में इसी विषय की व्याख्या होने से इसका नाम 'सन्धिविषय' रक्खा है ।

(प्रश्न) शब्द नित्य हैं वा अनित्य ?

(उत्तर) नित्य हैं ।

(प्रश्न) जब नित्य हैं तो शब्द लोप, आगम और वर्णविकार क्यों होते हैं ?

(उत्तर) 'सिद्धन्तु नित्यशब्दत्वात् । सिद्धमेतत् । कथम्? नित्यशब्दत्वात्। नित्याः शब्दाः । (नित्येषु[1] शब्देषु) सतामादैचां संज्ञा क्रियते न (च) संज्ञया आदैचो भाव्यन्ते' ।।

महाभाष्य अ. १ । पा. १. । सू. १६ । आ. ३ ।

ये दोष नहीं आ सकते, क्योंकि जो सत्य है वही होता है और जो असत्य है वह कभी नहीं होता । शब्द नित्य है, नित्य शब्दों में वर्त्तमान आदैच् की वृद्धि संज्ञा की जाती है, संज्ञा से आदैच् नहीं बनाये जाते

---

१. महाभाष्य में जैसा पाठ है वह सर्वत्र इन ( ) कोष्ठों में दर्शाया है

'अथ युक्तं यन्नित्येषु शब्देष्वादेशाः स्युः ? बाढं युक्तम् । शब्दान्तरैरिह भवितव्यम् । तत्र शब्दरान्तराच्छब्दान्तरस्य[1] प्रतिपत्तिर्युक्ता । आदेशास्तर्हीमे भविष्यन्ति अनागमकानां सागमकाः । तत्कथम्?

सर्वं सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते' ।।१।।

महाभाष्य अ. १ । पा. १ । सूत्र ३४ । आ. ५ ।।

(प्रश्न) क्या नित्य शब्दों में आदेशादि का होना युक्त है ?

(उत्तर) हां, क्योंकि शब्दान्तरों के स्थानों में शब्दान्तरों के प्रयोगमात्र करने को आदेशादि होते हैं । जैसे - 'आदि + सु — अन्त + सु — औ' इत्यादि के स्थानों में, आद्यन्तौ' इत्यादि और 'पुरुष+आम्' इत्यादि आगमरहित पदों के स्थानों में 'पुरुषाणाम्' ऐसे नुडागमसहित के प्रयोग किये जाते हैं। इसी प्रकार दाक्षी के पुत्र पाणिनि आचार्य्य के मत में सब शब्दसङ्घातों के प्रयोग-विषय में शब्दान्तरों के सङ्घातों का उच्चारण किया जाता है, क्योंकि एकदेशविकार अर्थात् इकार के स्थान में यकार और यकार के स्थान में इकार आदि कार्य्य होने से शब्दों का नित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता । जैसे आचार्य्य के स्थान में शिष्य का उपयोग, पिता के स्थानापन्न पुत्र, देवदत्त के अधिकार में यज्ञदत्त आदि का ग्रहण होता है, तथा घोड़े के स्थान में बैल और बैल के स्थान में घोड़ा जोड़ा जाता है । यहाँ किसी का नाश हो जाता है ?

'कार्यविपरिणामाद्वा सिद्धम् । अथ वा कार्यविपरिणामात् सिद्धमेतत् । किमिदं कार्य्यविपरिणामादिति ? कार्या बुद्धिः सा विपरिणम्यते'।

महाभाष्य अ. १ । पा. १ । सू. ७२ । आ. ८ ।।

इन शब्दों के प्रयोग होने से भी वे अनित्य नहीं हो सकते, क्योंकि बुद्धि और वाणी की क्रिया ही का विपरिणाम अर्थात् अवस्थान्तर होता है,

१. ''शब्दान्तरे शब्दान्तरस्य'' इति महाभाष्ये पाठः ।

शब्दों का नहीं । क्योंकि जो शब्द अनित्य हों तो उनकी पुन: पुन: प्रसिद्धि नहीं हो सकती, जैसे कोई मनुष्य 'गौ:' इसको बोल के मौन अथवा अन्य शब्दों का उच्चारण करके कालान्तर में पुन: 'गो' शब्द का उच्चारण करता है, जो 'गो' शब्द अनित्य होता तो पुन: कहाँ से आता ? और क्या उच्चारण के पश्चात् बुद्धि में 'गो' शब्द ही नहीं रहता ? तथा क्या सर्वज्ञ ईश्वर के ज्ञान में किसी शब्द, अर्थ और सम्बन्ध का कभी अभाव भी होता है ?

इसलिये वहाँ ऐसा समझना चाहिये कि 'गौ:' शब्द के उच्चारण में जब तक वाणी की क्रिया गकारस्थ होती तब तक औकार में नहीं, जब तक औकार में रहती तब तक विसर्जनीय में नहीं, जब तक विसर्जनीय में होती तब तक अवसान में नहीं रहती है । इसी प्रकार सर्वत्र वाणी की क्रिया ही का विपरिणाम जानना चाहिये, शब्दों के अवस्थान्तर नहीं ।

'नित्याश्च शब्दा: । नित्येषु (च) शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णै-र्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभि:' ।।

महाभाष्य अ. १. । पा. १ । सू. २ । आ. २ ।।

इसलिये शब्द नित्य हैं, क्योंकि जो-जो शब्दों में वर्ण हैं वे कूटस्थ अर्थात् निश्चल हैं । जो उच्चारणक्रिया से ताड़ित वायु की चालना होने से आकाशवत् सर्वत्र स्थित शब्द सुने जाते हैं, सो पर्वत के समान कूटस्थ हैं। न इनका अपाय अर्थात् लोप, न आगम, न विकार और न कभी वे चलते, और आकाश का गुण होने से उसके समान शब्द भी नित्य हैं । इसलिये जो-जो शब्दों के विषय में लोप, आगम वर्णविचार आदि की साधन प्रक्रिया शास्त्रों में लिखी है, सो-सो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के जानने के लिये हैं ।

देखो यह वचन है -

'कथं पुनरिदं भगवत: पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम् ? सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' । महाभाष्य अ. १.। पा.१। आ.१।।

व्याकरणादि शास्त्रों की प्रवृत्ति नित्य शब्द, नित्य अर्थ और नित्य सम्बन्धों के जानने के लिये है । इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि इस 'सन्धि-विषय' का ज्ञान अवश्य करें और करावें । क्योंकि जब अनेक पद अथवा अक्षर मिल कर होने से उनका स्वरूप पहिचानने में नहीं आता, तब उन के ज्ञान के बिना पद और पदार्थ का ज्ञान भी नहीं हो सकता, बिना इसके प्रीति और व्यवहार की सिद्धि के न होने से सुखलाभ कैसे हो सकता है?

(प्रश्न) - व्याकरणादि शास्त्र पढ़ने के कितने प्रयोजन हैं ।

(उत्तर) - रक्षा । ऊहः । आगमः । लघु । असन्देहः । तेऽसुराः० । दुष्ट शब्दः० । यदधीतम्० । यस्तु प्रयुङ्क्ते० । अविद्वांस० । विभक्तिं कुर्वन्ति० । यो वा इमाम्० । चत्वारि० । उत त्वः० । सक्तुमिव० । सारस्वतीम्० । दशम्यां पुत्रस्य० ।। सुदेवो असि वरुण इति० । ये अठारह १८ प्रयोजन हैं ।

इनके अर्थ :- (रक्षा) मनुष्य लोगों को वेदों की रक्षा के लिये व्याकरणादि शास्त्र अवश्य पढ़ने चाहियें, क्योंकि इनके पढ़ने ही से लोप, आगम और वर्णविकार आदि का यथावत् बोध होकर वेदों की रक्षा कर सकते हैं ।

(ऊहः) वेदों में सब लिङ्ग और सब विभक्तिसहित शब्दों के प्रयोग नहीं किये हैं, उनका बोध व्याकरणादि शास्त्र के विज्ञानपूर्वक तर्क के बिना यथावत् कभी नहीं हो सकता ।

(आगमः) सब मनुष्यों को अवश्य उचित है कि साङ्गोपाङ्ग वेदों को पढ़कर यथोक्त क्रिया करके सुखलाभ को प्राप्त हों । सो व्याकरणादि के पढ़े बिना कभी नहीं हो सकता, क्योंकि सब विद्याओं को प्राप्त करने में व्याकरण ही प्रधान है । प्रधान में किया हुआ पुरुषार्थ सर्वत्र महालाभकारी होता है ।

(लघु) मनुष्यों को अवश्य उचित है कि वेदादि शास्त्रों के सब शब्द, अर्थ और सम्बन्धों को जानें । सो व्याकरणादि के पढ़े बिना थोड़े परिश्रम से पूर्वोक्त पदार्थों का सहज से यथावत् जानना नहीं हो सकता ।

(असन्देह:) मनुष्य व्याकरणादि को पढ़ के ही शब्दार्थ-सम्बन्धों को निस्सन्देह जान सकता है ।

(तेऽसुरा:०) जो मनुष्य व्याकरणादि शास्त्रों की शिक्षा से रहित होते हैं, वे हल्ला गुल्ला करके अप्रतिष्ठित होकर नीचता को प्राप्त हो जाते, और जो व्याकरणादि की सुशिक्षा से युक्त होते हैं, वे श्रेष्ठता से सम्पन्न होते हैं ।

(दुष्ट: शब्द०) स्वर और वर्ण के विपरीत करने से शब्द दुष्ट और वज्र के समान होकर वक्ता के अभिप्राय को विपरीत कर देता है, और जो व्याकरणादि को पढ़ के यथावत् स्वर और वर्णोच्चारण करते हैं वे ही पंडित कहाते हैं ।

(यदधीतम्०) जो मनुष्य अर्थज्ञान के बिना पाठमात्र ही पढ़ते जाते हैं, उनके हृदय में विद्यारूप सूर्य्य का प्रकाश कभी नहीं होता और जो व्याकरणादि शास्त्रों को अर्थसहित पढ़ते हैं, वे ही सूर्य्य के प्रकाश के समान विद्यारूप प्रकाश को प्राप्त होकर अन्य मनुष्यों को इनकी प्राप्ति कराके सर्वदा आनन्दित रहते हैं ।

(यस्तु प्रयुङ्क्ते०) जो मनुष्य विशेष व्यवहारों में शब्दों के प्रयोग ज्यों के त्यों करते हैं, वे ही अनन्त विजय को प्राप्त होते और जो ऐसा नहीं करते, वे सर्वत्र पराजित होकर सर्वदा दु:खित रहते हैं ।

(अविद्वांस:०) जो विद्याहीन मनुष्य होते हैं वे सभा तथा बड़े छोटे मनुष्य के सङ्ग के भाषणादि व्यवहारों को यथावत् नहीं कर सकते । उनको विद्वानों की सभा में स्त्री के समान लज्जित होना पड़ता, और जो विद्वान् होते हैं, वे पूर्वोक्त व्यवहारों को यथावत् करके सर्वत्र प्रशंसा को प्राप्त होते हैं ।

(विभक्तिं, कुर्वन्ति०) जो विद्वान् होते हैं वे ही यज्ञकर्म्म अथवा सभा के बीच में यथायोग्य विभक्तिसहित शब्दों के प्रयोग कर सकते और जो व्याकरणादि शास्त्र को पढ़े नहीं होते वे इसमें समर्थ नहीं हो सकते ।

(यो वा इमाम्०) जो मनुष्य पद, स्वर और अक्षरों को शुद्धतापूर्वक उच्चारण करके अपनी वाणी को पवित्र करता है, वही यज्ञ और सभा आदि व्यवहारों में मान्य को प्राप्त होता है ।

(चत्वारि०) जिसके आत्मा में शब्दविद्या प्राप्त होती है, वही महाविद्वान् होकर अपने और अन्य सब मनुष्यों के कल्याण करने में समर्थ होता है।

(उत त्वः) जो मनुष्य व्याकरणादि विद्या को नहीं पढ़ता, वह विद्यायुक्त वाणी के दर्शन से रहित होकर देखता और सुनता हुआ भी अन्धे और बहिरे के समान होता, और जो इस विद्या के स्वरूप को प्राप्त होता है, उसी को विद्या परमेश्वर से लेकर पृथिवी पर्यन्त पदार्थों का स्वरूप यथावत् जना देती है ।

(सक्तुमिव०) जैसे चलनी से सक्तु को छानकर मैदा और भूसी अलग-अलग कर देते हैं, वैसे जो मनुष्य विद्यायुक्त होते हैं वे सत्याऽसत्य का विवेक करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग ठीक-ठीक कर सकते हैं ।

(सारस्वतीम्०) जब मनुष्य अविद्वान् होते हैं, तब भ्रान्तियुक्त होकर सभा और यज्ञशालादि के व्यवहारों में अनृतभाषण कर दूषित हो जाते, और जो व्याकरणादि शास्त्रों को पढ़कर वेदोक्त व्यवहारों को यथावत् करते हैं, वे ही सुभूषित होकर प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं ।

(दशम्यां पुत्रस्य०) मनुष्यों को आवश्यक है कि अपने सन्तानों का नाम जन्म से दशवें दिन शास्त्रोक्त रीति से रक्खें । परन्तु शास्त्रों के पढ़े बिना नाम में दो वा चार अक्षर और वे वर्ण किस प्रकार के हों इत्यादि नहीं जान सकते । और जो विद्वान् होते हैं वे तो शास्त्रोक्त प्रमाणों को जानकर उक्त व्यवहार को यथावत् कर सकते हैं ।

(सुदेवो असि वरुण इति०) जैसे विद्वान् लोग सब विद्याओं को पढ़कर सत्य देव कहाते हैं, वैसे हम भी हों । इत्यादि प्रयोजनों के लिये शास्त्रों को पढ़ना सब मनुष्य को अवश्य चाहिये ।

यह अठारह १८ प्रयोजन यहाँ संक्षेप से लिखे हैं, किन्तु इनके प्रमाण

और विस्तारपूर्वक 'अष्टाध्यायी' की भूमिका में लिखेंगे ।

सन्धि और संहिता ये दोनों एकार्थ हैं ।

(प्रश्न) 'संहिता' किसको कहते हैं ?

(उत्तर) 'परः सन्निकर्षः संहिता । शब्दाविरामः, ह्रादाविरामः पौर्वापर्य्यमकालव्यपेतं संहिता ।।

महाभाष्य अ. १ । पा. ४ । सू. १०८ आ. ४ ।।

जहाँ पूर्व वर्ण व पदों को पर के साथ उच्चारित शब्द ध्वनि और काल का व्यवधान न हो, उसको 'संहिता' कहते हैं, कि यहां अक्षरों के साथ अक्षर, पदों के साथ पद और वाक्यों के साथ वाक्य मिलाकर उच्चारण किये वा लिखे जाते हैं । जैसे — 'अ+अ' ये दोनों मिल कर 'आ', और 'अ+ई' मिल कर 'ए' इत्यादि अक्षरों, 'धर्मार्थकाममोक्षाः' इत्यादि पदों और 'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्' इत्यादि वाक्यों की संहिता कहाती है ।

(प्रश्न) 'अवसान' किसको कहते हैं ?

(उत्तर) विरामोऽवसानम् ।। अ. १ पा. ४ । सू. १०९ ।।

जहाँ क्रिया और वर्ण का अभाव तथा काल-व्यवधान हो उसको 'अवसान' कहते हैं । क्योंकि "**वाक्यं वक्त्रधीनं हि**" वाक्य वक्ता के अधीन होता है, चाहे संहिता करे, चाहे अवसान करे । परन्तु इसमें यह नियम समझना अवश्य है कि एकपद, समास और धातु तथा उपसर्ग के योग में तो संहिता ही करनी और वाक्य में संहिता तथा अवसान दोनों पक्ष शुद्ध हैं । सो चार प्रकार का होता है -

१—स्वर, २—हल् ३—हल्स्वर, और ४—अयोगवाह सन्धि ।

१—'स्वरसन्धि' उसको कहते हैं कि यहाँ दो वा अधिक स्वर मिलकर एक हो जाते हैं । जैसे — 'अ+अ'= आ, 'अ+इ', ई, आ+इ, ई = ए इत्यादि।

२— 'हल्सन्धि उसको कहते हैं कि जहाँ हल् से परे हल् का मेल

हो जाता है । जैसे — कार्त्स्न्यम् । यहां 'र् + त् +स् + न् + य' मिले हैं ।

३— 'हल्स्वरसन्धि' उसको कहते हैं कि जहाँ हल् और अच् का मेल होता है । जैसे — 'क्+अ' = क इत्यादि ।

और ४— 'अयोगवाहसन्धि' उसको कहते हैं कि जिसमें अच् और हल् के साथ जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, ꣳकार, अनुस्वार, अनुनासिक और विसर्जनीय का मेल होता है । जिह्वामूलीय — देवदत्त ᳵ किङ्करोति, किङ्कर ᳵ खनति, इत्यादि । उपध्मानीय — बालक ᳶ पठति, वृक्ष ᳶ फलति, इत्यादि । ह्रस्वꣳकार — सꣳहितासि । दीर्घ ꣴ कार = तेषा ꣴ सहस्रयोजने, इत्यादि । अनुस्वार — प्रशंसन्ति, इत्यादि । अनुनासिक — ताँश्चिनोति, इत्यादि । विसर्जनीय — परमेश्वरः इत्यादि ।

पढ़ने और पढ़ाने वाले ऐसी उत्तमरीति से इस को पढ़े पढ़ावें जिससे संयुक्त शब्दों को यथावत् शीघ्र जानकर विद्या के ग्रहण करने और कराने में उपयुक्त होकर शास्त्रों के पढ़ने में सामर्थ्य को प्राप्त कर के सुखी हो जावें ।।

❑ ❑ ❑

अथ संज्ञाप्रकरणम्

८७-अथ शब्दानुशासनम् ।। १ ॥

शब्दानुशासनशास्त्र का अधिकार किया जाता है ।

अर्थात् शब्दों को कैसे बनाना, बोलना और परस्पर सम्बन्ध करना चाहिये, इस प्रकार की शिक्षा का आरम्भ किया जाता है । यह प्रतिज्ञासूत्र है ।।

अ इ उ ण् ।। २ ॥ ऋ लृ क् ।। ३ ॥ ए ओ ङ् ।। ४ ।।

ऐ औ च् ।। ५ ॥ ह य व र ट् ।। ६ ॥ ल ण् ।। ७ ॥

ञ म ङ ण न म् ।। ८ ॥ झ भ ञ् ।। ९ ॥

घ ढ ध ष् ।। १० ॥ ज ब ग ड द श् ।। ११ ॥

ख फ छ ठ थ च ट त व् ।। १२ ॥ क प य् ।। १३ ॥

श ष स र् ।। १४ ॥ ह ल् ।। १५ ॥

ये चौदह सूत्र वर्णोपदेश के लिये हैं ।

इसको वर्णसमाम्नाय वा 'अक्षरसमाम्नाय' भी कहते हैं । शब्दविषय में जितने वर्ण हैं, वे सब ये ही हैं । इन चौदह सूत्रों में अन्त के चौदह वर्ण हल् पढ़े हैं, वे प्रत्याहार बनाने के लिये हैं ।।

८८-हलन्त्यम् ।। १६ ॥ १ । ३ । ३ ।।

उपदेश में धातु आदि के जो-जो अन्त्य हल् अर्थात् व्यञ्जन वर्ण हैं, वे इत्संज्ञक हों ।

जैसे — ण् क् इत्यादि । 'उपदेश' ग्रहण इसलिये है कि — 'अग्निचित्' यहाँ त् की इत्संज्ञा न हो ।।१६।।

८९-आदिरन्त्येन सहेता ।। १७ ।। १ । १ । ७० ।।

जो-जो इन सूत्रों में आदि वर्ण हैं, वे इत्संज्ञक अन्त्य वर्णों के साथ संज्ञा बनकर मध्यस्थ वर्णों और अपने रूप को भी ग्रहण कराने वाले होते हैं ।

जैसे — 'अ इ उ ण्' यहाँ आदि वर्ण अकार ण् के साथ 'अण्' संज्ञा को प्राप्त होता है, सो 'अ इ उ' का ग्राहक होता है । इसी प्रकार 'अच्' के कहने से 'अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ, वर्णों का ग्रहण होता है । और जो अच् प्रत्याहार के बीच में 'ण् क् च् आदि आते हैं, इनका ग्रहण नहीं होता क्योंकि चौदह सूत्रों के चौदह अन्त्य के हलों की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है ।

यहाँ व्याकरण के चौदह सूत्रों में जितने प्रत्याहार बनते हैं, उनको निम्नलिखित प्रकार से जानो । जैसे —

अकार से सात ७ प्रत्याहार — अण्; अक्; अच्; अट्; अम्; अश्; अल् ।

इकार से तीन ३ प्रत्याहार — इक्; इच्; इण्; ।
उकार से एक १ प्रत्याहार — उक् ।
एकार से दो २ प्रत्याहार — एङ्; एच् ।
ऐकार से एक १ प्रत्याहार — ऐच् ।
हकार से दो २ प्रत्याहार — हश्; हल् ।
यकार से पांच ५ प्रत्याहार — यण्; यम्; यञ्; यय्; यर् ।
वकार से दो २ प्रत्याहार — वश्; वल् ।
रेफ से एक १ प्रत्याहार — रल् ।
ञकार से एक १ प्रत्याहार — ञम् ।
मकार से एक १ प्रत्याहार — मय् ।

ङकार से एक १ प्रत्याहार — ङम् ।

झकार से पाँच ५ प्रत्याहार — झष्; झश्; झय्; झर्; झल् ।

भकार से एक १ प्रत्याहार — भष् ।

जकार से एक १ प्रत्याहार — जश्

बकार से एक १ प्रत्याहार — बश् ।

छकार से एक १ प्रत्याहार — छव् ।

खकार से दो २ प्रत्याहार — खय्; खर् ।

चकार से दो २ प्रत्याहार — चय्; चर् ।

शकार से दो २ प्रत्याहार — शर्; शल् ।

ये सब मिलकर बयालीस ४२ प्रत्याहार बनते हैं ।। १७ ।।

१०-वृद्धिरादैच् ।। १८ ।। १ । १ । १ ।।

दीर्घ आकार और ऐच् प्रत्याहार ऐ औ, इनकी वृद्धि संज्ञा हो ।

जैसे 'कमु + घञ् + सु = कामः । 'गर्ग + यञ् + सु' = गार्ग्यः (गर्गस्य गोत्रापत्यम्) । 'णीञ् + ण्वुल् + सु' = नायकः (यो नयति सः) । 'शिव + अण् + सु' = शैवः । 'उपगु + अण् + सु' = औपगवः ।। १८ ।।

११-अदेङ्गुणः ।। १९ ।। १ । १ । २ ।।

ह्रस्व अकार, एङ् अर्थात् ए ओ, इन तीन वर्णों की गुण संज्ञा है।

जैसे — तरिता; चेता; स्तोता ।। १९ ।।

१२-हलोऽनन्तराः संयोगः ।। २० ।। १ । १ । १।।

जिनके बीच में कोई स्वर न हो, इस प्रकार के दो वा अधिक हलों की संयोग संज्ञा हो ।

जैसे — इन्द्रः; अग्निः; आदित्यः, इत्यादि ।। २० ।।

१३-मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ।।२१ ।।१ ।१ ।८ ।।

कुछ मुख और कुछ नासिका से जिस वर्ण का उच्चारण हो, उसकी अनुनासिक संज्ञा हो ।

जैसे — 'ञ, म, ङ, ण, न' इन पांच वर्णों, अनुस्वार और अनुनासिक के चिह्न को भी 'अनुनासिक' कहते हैं ।। २१ ॥

१४-तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ।। २२ ।। १ । १ । ९।।

जिन वर्णों का कण्ठ आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न समान हो, उनकी परस्पर सवर्णसंज्ञा होती है ।

जैसे — 'क ख ग घ ङ' इत्यादि की सवर्ण संज्ञा है । स्थान प्रयत्नों का विषय वर्णोच्चारण शिक्षा सूत्र २२—६८ में है ।। २२ ॥

१५-वा.-ऋकारलृकारयोः सवर्णविधिः ।। २३ ॥ महा. १ । १ । ९ । ४ ।।

ऋकार लृकार की सवर्ण — संज्ञा का विधान करना चाहिये, क्योंकि इन दोनों का स्थान भिन्न-भिन्न है, इससे [उक्त सूत्र से] सवर्ण-संज्ञा नहीं पाती थी, तदर्थ यह वार्त्तिक है । प्रयोजन यह है कि 'होतृ + लृकारः' यहाँ सवर्ण संज्ञा के होने से दोनों के स्थान में 'होतॄकारः' सवर्णदीर्घ एकादेश हो गा ।। २३ ॥

१६-नाज्झलौ ।। २४ ।। १ । १ । १० ।।

अच् हल् परस्पर सवर्णसंज्ञक न हों ।

जैसे—अ—ह । इ—श । ऋ—ष, इत्यादि की परस्पर सवर्णसंज्ञा नहीं होती ।। २४ ॥

१७-वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः ।। २५ ।। ८ । २ । ८२ ।।

प्लुतप्रकरण में यह अधिक सूत्र है ।

यहाँ से आगे जो कहेंगे वह वाक्य का टिसंज्ञक भाग प्लुत उदात्त

समझा जावेगा ।। २५ ।।

९८-प्रत्यभिवादेऽशूद्रे ।। २६ ।। ८ । २ । ८३ ।।

प्रत्यभिवाद में वाक्य के टि को प्लुत उदात्त स्वर हो और शूद्र के प्रत्यभिवाद में न हो ।

जो पूर्व अभिवादन — नमस्कार — किया जाता है उसका जो उत्तर देने वाले की ओर से वाक्य होता है उसको 'प्रत्यभिवाद' कहते हैं । जिसके आगे तीन का अङ्क होता है, वह 'प्लुत का चिह्न' समझा जाता है ।

प्लुत के तीन भेद हैं — प्लुतोदात्त; प्लुतानुदात्त; प्लुतस्वरित । उन में से प्लुतोदात्त का यहाँ विधान करते हैं । अभिवाद—अभिवादये देवदत्तोऽहम्भोः प्रत्यभिवाद — आयुष्मानेधि देवदत्त३ इति, इत्यादि । यहाँ 'अशूद्र' ग्रहण इसलिये है कि — 'अभिवादये तुषजकोऽहम्भोः, आयुष्मानेधि तुषजक' यहाँ नहीं हुआ ।। २६ ॥

९९-वा.-अशूद्रस्त्र्यसूयकेष्विति वक्तव्यम् ।। २७ ॥ ८ । २ । ८३ ॥

शूद्र के अभिवाद में जो निषेध है, वहाँ स्त्री और असूयक अर्थात् निन्दक के टि को भी प्रत्यभिवाद में प्लुतोदात्त न हो ।

जैसे-स्त्री — अभिवादये गार्गी अहम्भोः, आयुष्मती भव गार्गि । वात्सी अहम्भोः, आयुष्मती भव वात्सि । असूयक — अभिवादये स्थाल्यहम्भोः, आयुष्मानेधि स्थालिन् । 'स्थाली' किसी निन्दक की संज्ञा है ।। २७ ॥

१००-वा.-भोराजन्यविशां वा ।। २८ ।। ८ । २ ।। ८३ ॥

भो, राजन्य — क्षत्रिय, विश् —वैश्य इन के प्रत्यभिवाद में जो वाक्य है, उस के टि को प्लुतोदात्त विकल्प करके हो ।

भो — देवदत्तोऽहम्भोः, आयुष्मानेधि देवदत्त भो३ः इति; आयुष्मानेधि देवदत्त भोः । राजन्य — इन्द्रवर्म्माऽहम्भोः । आयुष्मानेधीन्द्रवर्म्म३न्;

आयुष्मानेधीन्द्रवर्म्मन् ।विश् — अभिवादये इन्द्रपालितोऽहम्भोः; आयुष्मानेधीन्द्रपालित३; आयुष्मानेधीन्द्रपालित, इत्यादि ।।२८।।

१०१-दूराद्धूते च ।। २९ ।। ८ । २ ।। ८४ ।।

जो दूर से बुलाने में वर्तमान वाक्य है, उसके टि को प्लुतोदात्त हो।

दूर से यहाँ क्या समझना चाहिये, क्योंकि जो दूर है, वही किसी के प्रति समीप भी होता है, इसलिये —

भा. — यत्र प्राकृतात् प्रयत्नाद् विशेषेऽनुपादीयमाने सन्देहो भवति श्रोष्यति न श्रोष्यति, तद् दूरमिहावगम्यते ।। महा. ८।२।८४।।[1]

जहाँ स्वाभाविक प्रयत्न से बुलाने में सुनने न सुनने का विशेष कारण न मिले, वहां सन्देह होता है कि जिसको बुलाते हैं, वह सुनेगा वा नहीं उसको 'दूर' कहते हैं ।

उदाहरण — आगच्छ भो माणवक देवदत्त३ अत्र । यहां 'दूर' ग्रहण इसलिये कि — आगच्छ भो माणवक देवदत्त, यहाँ (समीप के सम्बोधन में) प्लुत न हुआ ।। २९ ।।

१०२-हैहेप्रयोगे हैहयोः ।। ३० ।। ८ । २ । ८५ ।।

'है, हे' शब्दों का प्रयोग हो, तो दूर से बुलाने में जो वाक्य, उस में 'है, हे' शब्दों को प्लुतोदात्त हो ।

उदाहरण — है३ देवदत्त; देवदत्त है३ । हे३ देवदत्त; देवदत्त हे३ ।

इस में दुबारा 'है, हे' ग्रहण इसलिये है कि वाक्य के आदि अन्त में सर्वत्र 'है, हे' को प्लुतोदात्त हो जावे ।। ३० ।।

१०३-गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् ।। ३१ । ८ । २ । ८६ ।।

१. महाभाष्ये त्वेवमस्तिः - ''यत्र प्राकृतात्प्रयत्नात्प्रयत्नविशेष उपादीयमाने संदेहो भवति, श्रोष्यति न श्रोष्यतीति तद्दू रमिहावगम्यते ।।''

जो ऋकार को छोड़ के अनन्त्य गुरुवर्ण है, उस एक-एक को सम्बोधन वाक्य में विकल्प करके प्लुतोदात्त होता है ।

दे३वदत्त, यहां 'दे' गुरु है, उसको प्लुतोदात्त, देवद३दत्त, यहाँ दकार को प्लुतोदात्त होता है । इसी प्रकार - य३ज्ञदत्त, इत्यादि ।

यहां 'गुरु' ग्रहण इसलिये है कि — वकार को प्लुत न हो । 'ऋकार का निषेध' इसलिये है कि —कृष्णदत्त३, यहां ऋकार को प्लुत न हुआ । 'प्राचां' ग्रहण इसलिये है कि —प्लुत उदात्त विकल्प करके हो । आयुष्मानेधि देवदत्त३, यहां एक पक्ष में नहीं होता । [वाक्य की टि को भी प्लुत हो जावे इसलिये 'अपि' ग्रहण किया है] । 'एकैक' ग्रहण इसलिये है कि — एक वाक्य में एक साथ कई वर्णों को प्लुत न हो ।। ३१ ॥

१०४-ओमभ्यादाने ।। ३२ ।। ८ । २ । ८७ ॥

अभ्यादान अर्थात् आरम्भ अर्थ में जहां ओम् का प्रयोग किया जाता है, वहां प्लुतोदात्त होता है ।

जैसे - ओ३म् इषे त्वोर्जे त्वा । ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितम्, इत्यादि ।। ३२ ॥

१०५-ये यज्ञकर्मणि ।। ३३ ।। ८ । २ । ८८ ॥

यज्ञकर्म अर्थ में 'ये' इस पद को प्लुतोदात्त हो ।

ये३ यजामहे । 'यज्ञकर्म' इसलिये कहा कि—'ये यजामहे' ऐसा पाठ करने मात्र में प्लुत न हो, किन्तु विधियज्ञ में जब मन्त्र का प्रयोग हो वहीं प्लुत होवे । और 'यजामहे' के साथ ही 'ये' शब्द को लुप्त अभीष्ट है, किन्तु 'ये देवासः', इत्यादि में लुप्त अभीष्ट नहीं ।। ३३ ॥

१०६-प्रणवष्टेः ।। ३४ ।। ८ । २ । ८९ ।।

यज्ञकर्म में टि के स्थान प्रणव आदेश हो, सो लुप्त हो ।

पाद वा आधी ऋचा के अन्त्य टिसंज्ञक (६७) भाग के स्थान में

प्लुत ओंकार ही प्रणव कहाता है । उदाहरण — अपां रेतांसि जिन्वतो३म्, इत्यादि ।। ३४ ॥

१०७-याज्यान्तः ।। ३५ ।। ८ । २ । ९० ।।

याज्याकाण्ड में पढ़े हुए मन्त्रों के अन्य का जो टिसंज्ञक भाग है, उसको प्लुत हो ।

उदाहरण — स्तोमैर्विधेमाग्नये३ । जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहा३म् ।

इस में 'अन्त' ग्रहण इसलिये है कि — कोई-कोई ऋचा वाक्यसमुदायरूप है, उनमें प्रत्येक वाक्य के अन्त्य टिभाग को प्लुत न हो, किन्तु मन्त्रान्त में ही हो ।। ३५ ॥

१०८-ब्रू हिप्रेष्यश्रौषड्वौषडावहानामादेः ।। ३६ ।। ८ । २ । ९१ ।।

ब्रूहि, प्रेष्य, श्रैषट्, वौषट् और आवह, इनके आदि अक्षर को उदात्त प्लुत हो ।

उदाहरण — अग्नयेऽनुब्रू३हि । अग्नये गोमयान् प्रे३ष्य । अस्तु श्री३षट्। सोमस्याग्ने वीही ३ वौ३षट् । अग्निमा३वह ।। ३६ ॥

१०९-अग्नीत्प्रेषणे परस्य च ।। ३७ ।। ८ । २ । ९२ ।।

अग्नीध् ऋत्विग्विशेष को प्रेरणा करने में आदि और उससे पर को भी प्लुतोदात्त हो ।

उदाहरण - ओ३म् श्रा३वय, इत्यादि ।। ३७ ॥

११०-विभाषा पृष्टप्रतिवचने हेः ।। ३८ ।। ८ । २ । ९३ ॥

पूछे हुए के उत्तर देने में हि को प्लुतोदात्त हो, विकल्प करके ।

उदाहरण — अकार्षीः कटं देवदत्त ? अकार्ष. हि३; अकार्षं हि, इत्यादि

'पृष्टप्रतिवचन' ग्रहण इसलिये है कि—कटङ्करिष्यति हि, यहाँ न हो ।। ३८ ॥

१११-निगृह्यानुयोगे च ।। ३९ ।। ८ । २ । ९४ ।।

वादी को प्रमाणों से उसके पक्ष से हरा के अपने पक्ष में पीछे नियुक्त करने में जो वाक्य, उसके टिभाग को प्लुतोदात्त विकल्प से हो ।

उदाहरण — 'अनित्यः शब्दः' — किसी ने यह प्रतिज्ञा की, उसको युक्ति से हरा के उपहासपूर्वक कहे कि — अनित्यः शब्द इत्यात्थ ३ । अनित्यः शब्द इत्यात्थ — आप ने यही कहा था, इत्यादि ।। ३९ ॥

११२-आम्रेडितं भर्त्सने ।। ४० ।। ८ । २ । ९५ ।।

धमकाने अर्थ में आम्रेडित वा उसके पूर्वभाग को प्रायः करके प्लुतोदात्त हो ।

उदाहरण — चौर, चौर३; चौर३; चौर घातयिष्यामि त्वा । दस्यो दस्यो३; दस्यो३ दस्यो बन्धयिष्यामि त्वा, इत्यादि, ।। ४० ॥

११३-अङ्गयुक्तं तिङाकाङ्क्षम् ।। ४१ ॥ ८ । २ । ९६ ।।

अङ्ग शब्द से युक्त सापेक्ष जो तिङन्त है, उसके टि को धमकाने अर्थ में प्लुतोदात्त हो ।

उदाहरण - अङ्ग कूज३, अङ्ग व्याहर३ इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म ! इत्यादि। 'तिङ्' इसलिये कहा कि—अङ्ग देवदत्त, यहां न हो ।। ४१ ॥

११४-विचार्यमाणानाम् ।। ४२ ।। ८ । २ । ९७ ॥

जो विचार्य्यमाण वाक्य हैं, उनकी टि को प्लुतोदात्त हो ।

जैसे - होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३इ इति, यहाँ दीक्षित के घर में हवन करना चहिये, [वा नहीं] यह विचार करते हैं ।। ४२ ॥

११५-पूर्वं तु भाषायाम् ।। ४३ ।। ८ । २ । ९८ ।।

लौकिक प्रयोग में विचार्यमाण वाक्यों के पूर्व प्रयोग में प्लुतोदात्त हो।
अहिर्नु३; रज्जुर्नु—यह सांप है वा रज्जु ? ।। ४३ ॥

११६-प्रतिश्रवणे च ।। ४४ ॥ ८ । २ । ९९ ॥

स्वीकार अर्थ में जो वाक्य, उसके टि को प्लुतोदात्त हो ।
गां देहि भो:, अहं ते ददामि३ ।। ४४ ॥

११७-अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयो: ।। ४५ ।। ८ । २ । १०० ।।

प्रश्न के अन्त में और अभिपूजित अर्थ में अनुदात्त प्लुत हो ।
प्रश्नान्त - अगम३: पूर्वान् ग्रामा३न् अग्निभूता३ इ इति; पटा३उ इति।
२

'अगम३: पूर्वा३न् ग्रामा३न्' यहाँ (५०) से आदि मध्य में प्लुत हुआ है ।
अभिपूजित—शोभन: खल्वसि माणवक३ अत्र इत्यादि ।। ४५ ॥

११८-चिदिति चोपमार्थे प्रयुज्यमाने ।। ४६ ॥ ८ । २ । १०१।।

उपमार्थवाची चित् अव्यय के प्रयोग में जो वाक्य उसकी टि को प्लुतानुदात्त हो ।

उदाहरण - अग्निचिद् भाया३त् । राजचिद् भाया३त्—अग्नि के तुल्य वा राजा के तुल्य तेजस्वी होवे । 'उपमार्थ' इसलिये कहा कि—कथंचिदाहु:, यहाँ प्लुत न हो । 'प्रयुज्यमान' इसलिये है कि—अग्निर्माणवको भायात् यहां न हो ।। ४६ ।।

११९-उपरिस्विदासीदिति च ।।४७ ।।८ ।२ ।१०२ ।।

'उपरिस्विदासीत्' इस वाक्य के टि को प्लुतानुदात्त हो ।

उपरिस्विदासी३त् ।। ४७ ॥

१२०-स्वरिताम्रेडितेऽसूयासम्मतिकोपकुत्सनेषु ।। ४८ ॥ ८ । २ । १०३ ।।

जो आम्रेडित — द्विर्वचन का परभाग - परे हो, तो असूया, सम्मति, कोप और कुत्सन अर्थ में पूर्वभाग को स्वरित प्लुत हो ।

असूया — माणवक३ माणवक अविनीतोऽसि । सम्मति—प्रियंवद३ प्रियंवद शोभन: खल्वसि । कोप—दुर्जन ३ दुर्जन तूष्णीम्भव । कुत्सन याष्टीक३ याष्टीक रिक्ता ते यष्टि:, इत्यादि ।। ४८ ॥

१२१-क्षियाशी:प्रैषेषु तिङाकाङ्क्षम् ।। ४९ ।। ८ । २ । १०४ ।।

क्षिया—आचार बिगाड़ना, आशीर्वाद और आज्ञा देने अर्थ में अन्य उत्तरपद की आकाङ्क्षा रखने वाले तिङन्त पद प्लुतस्वरित हों ।

स्वयं रथेन याति३ उपाध्यायं पदातिं गमयति । सुतांश्च लप्सीष्ट३ धनं च तात । कटं कुरु३ ग्रामं च गच्छ । 'आकाङ्क्षा' ग्रहण इसलिये है कि— दीर्घ ते आयुरस्तु, यहाँ प्लुत न होवे ।। ४९ ॥

१२२-अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयो: ।। ५० ॥ ८ । २ । १०५ ।।

प्रश्न और आख्यान अर्थ में अन्त्य और अनन्त्य पद के भी टिभाग को प्लुतस्वरित होवे ।

आगम३ । पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३इ; पटा३उ । आख्यान में - अगम३: पूर्वा३न् ग्रामा३न् भो: ।। ५० ॥

१२३-प्लुतावैच इदुतौ ।। ५१ ॥ ८ । २ । १०६ ।।

(दूराद्धूते. ।। ८ । २ । ८४) इत्यादि सूत्रों में जो प्लुत विधान किया है, वहां ऐच् को जो प्लुत आवे तो उसके अवयव इकार उकार को प्लुत हो ।

ऐ३तिकायन: । औ३पगव, यहाँ जब इवर्ण अवर्ण का समविभाग समझा जाता है, तब इकार उकार द्विमात्र प्लुत हो जाते हैं ।। ५१ ॥

१२४-एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्द्धस्या-ऽऽदुत्तरस्येदुतौ ।। ५२ ।। ८ । २ । १०७ ।।

जो समीप से बुलाने [अर्थात् दूर से बुलाने अर्थ से भिन्न अर्थों] में अप्रगृह्य एच् है, उसके [प्लुतविषयक] पूर्व अर्द्धभाग को आकारादेश हो और उत्तरभाग को इकार उकार आदेश हों ।

१२५-वा. प्रश्नान्ताभिपूजितविचार्यमाणप्रत्यभिवाद-याज्यान्तेष्विति वक्तव्यम् ।।५३ ।।महा.८ ।२ ।।१०७ ।।

जो इस सूत्र में कार्यविधान है, वह प्रश्नान्त, अभिपूजित, विचार्यमाण, प्रत्यभिवाद और याज्यान्तविषय में समझना चाहिये ।

प्रश्नान्त - अगम३: पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३इ; पटा३उ । अभिपूजित — सिद्धोऽसि माणवक३ अग्निभूता३इ; पटा३उ । विचार्यमाण — होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३इ । प्रत्यभिवाद — आयुष्मानेधि अग्निभूता३इ । याज्यान्त — उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे, स्तोमैर्विधेमाग्नया३इ, इत्यादि ।

पूर्वोक्त विषयों में परिगणन[1] इसलिये किया है कि—विष्णुभूते विष्णुभूते३ घातयिष्यामि त्वाम्, यहाँ न हुआ ।। ५२—५३ ॥

१२६-वा.-एच: प्लुतविकारे पदान्तग्रहणम् ।। ५४ ॥ महा. ८ । २ । १०७ ।।

जहाँ एच् को पूर्व सूत्र से आदेश करते हों, वहां पदान्त समझना चाहिये।

१. [वा.-विषयपरिगणनं च ।। महा. ८ । २ । १०७ ।।]

अत: यहां नहीं होता — भद्रं करोषि गौ:, यहाँ अन्त में विसर्जनीय आते हैं । यहाँ 'अप्रगृह्य' ग्रहण इसलिये है कि—शोभने खलु माले३ ।। ५४ ॥

१२७-वा.-आमन्त्रिते छन्दस्युपसंख्यानम् ।। ५५ ॥ महा. ८ । २ । १०७ ।।

आमन्त्रित परे हो, तो पूर्व को प्लुत हो वेदविषय में ।

जैसे — अग्ना३इ पत्नीव: ।। ५५ ॥

१२८-तयोर्य्वावचि संहितायाम् ।।५६ ॥८ ।२ ।१०८ ॥

पूर्वोक्त इकार उकार को य्, व् आदेश क्रम से होते हैं, अच् परे रहते संहिता में । अग्ना३यिन्द्रम् । पटा३वुदकम् ।।५६॥

—इति प्लुतसंज्ञाप्रकरणम् ।।

१२९-ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् ।।५७ ।।१ ।१ ।११ ।।

ई, ऊ, ए ये जिनके अन्त में हों ऐसे जो द्विवचनान्त शब्द, वे प्रगृह्यसंज्ञक हों ।

जैसे—अग्नी इमौ । वायू इमौ । माले इमे, इत्यादि ।। ५७ ॥

१३०-अदसो मात् ।। ५८ ।। १ । १ । १२ ।।

अदस् शब्द के मकार से परे ई, ऊ की प्रगृह्यसंज्ञा हो ।

जैसे—अमी एते । अमू इति ।। ५८ ॥

१३१-शे ।। ५९ ।। १ । १ । १३ ।।

जो विभक्ति के स्थान में शे आदेश होता है, उसकी प्रगृह्यसंज्ञा हो।

जैसे—अस्मे इन्द्राबृहस्पती ।। ५९ ॥

१३२-निपात एकाजनाङ् ।। ६० ।। १ । १ । १४ ।।

आङ् को छोड़कर जो केवल एक ही अच् निपात है, वह प्रगृह्यसंज्ञक हो ।

जैसे— अ, इ, उ । अ अपक्रम । इ इन्द्रं पश्य । उ उत्तिष्ठ ।।६०॥

१३३-ओत् ।। ६१ ॥ १ । १ । १५ ॥

जो ओकारान्त निपात है, वह प्रगृह्यसंज्ञक हो ।

जैसे—अथो इति । अहो इमे । भो इह, इत्यादि ।।६१॥

१३४-सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे ।। ६२ ।। १ । १ । १६ ॥

जो अनार्ष अर्थात् लौकिक इति शब्द के परे संबुद्धिनिमित्तक ओकार है, उसकी शाकल्य ऋषि के मत में प्रगृह्यसंज्ञा हो ।

जैसे—वायो इति । अन्य ऋषियों के मत में - वायविति । यहाँ 'अनार्ष' ग्रहण इसलिये है कि — आर्ष वैदिक इति शब्द के परे प्रगृह्यसंज्ञा न हो। जैसे — [ब्रह्म] बन्धवित्यब्रतीत्, इत्यादि ।।६२॥

१३५—उञः ऊँ ।। ६३ ।। १ । १ । १७ ।।

शाकल्य आचार्य के मत में अनार्ष इति शब्द परे हो, तो उञ् की प्रगृह्यसंज्ञा और उञ् के स्थान में ऊँ ऐसा आदेश हो, उसकी भी प्रगृह्यसंज्ञा हो ।

जैसे—उ इति । ऊँ इति । [विकल्प में] विति ।।६३॥

१३६-ईदूतौ च सप्तम्यर्थे ।।६४ ।।१ ।१ ।१८ ।।

सप्तमी विभक्ति के अर्थ में वर्त्तमान ईकारान्त ऊकारान्त शब्द प्रगृह्यसंज्ञक हो ।

उदाहरण - मामकी इति । तनू इति । सोमो गौरी अधिश्रितः ।।६४॥

१३७-न वेति विभाषा ।। ६५ ।। १ । १ । ४३ ।।

निषेध और विकल्प के अर्थ की विभाषा संज्ञा हो ।। ६५ ।।

१३८-अदर्शनं लोपः ।। ६६ ।। १ । १ । ५९ ।।

विद्यमान के अदर्शन की लोप संज्ञा हो ।। ६६ ।।

१३९-अचोऽन्त्यादि टि ।। ६७ ।। १ । १ । ६३ ।।

जो अचों के बीच में अन्त्य अच् है, उससे लेके जो अन्त्यादि समुदाय, सो टिसंज्ञक होता है ।

जैसे—अग्निचित् यहाँ अन्त्य के 'इत्' भाग की टि संज्ञा है ।। ६७ ।।

१४०-अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा ।। ६८ ।। १ । १ । ६४ ।।

जो वर्ण समुदाय पद के अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण है, उसकी उपधा संज्ञा होती है ।

जैसे—निर्, दुर्, यहाँ इ, उ की उपधा संज्ञा है ।। ६८ ।।

१४१-ऊकालोऽज्झ्स्वदीर्घप्लुतः ।। ६९ ।। १ । २ । २७ ।।

एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक अच् क्रम से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुतसंज्ञक हों ।

अ । आ । आ ३ ।। ६९ ।।

१४२-सुप्तिङन्तं पदम् ।। ७० ।। १ । ४ । १४ ।।

सुबन्त और तिङन्त शब्दों की पदसंज्ञा हो ।। ७० ।।

१४३-प्राग्रीश्वरान्निपाताः ।। ७१ ।। १ । ४ । ५६ ।।

यह अधिकार सूत्र है ।

इससे आगे जो कहेंगे उनकी निपातसंज्ञा होगी ॥ ७१ ॥

१४४-चादयोऽसत्त्वे ॥ ७२ ॥ १ । ४ ॥ ५७ ॥

जहां किसी निज द्रव्य के वाचक न हों, वहां च आदि शब्द निपातसंज्ञक हों ।

च । वा । ह, इत्यादि की निपातसंज्ञा है ॥ ७२ ॥

१४५-प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे ॥७३ ॥१ ।४ ॥५८॥

प्र आदि शब्द असत्त्व अर्थ में निपातसंज्ञक और क्रियायोग में उपसर्ग-संज्ञक हों ॥ ७३ ॥

१४६-गतिश्च ॥ ७४ ॥ १ । ४ । ५९ ॥

क्रियायोग में प्र आदि शब्द गतिसंज्ञक भी हों ॥ ७४ ॥

१४७-परः सन्निकर्षः संहिता ॥ ७५ ॥ १ । ४ । १०८ ॥

पर—अतिशयकर—जो सन्निकार्ष अर्थात् वर्णों की समीपता है, उसकी संहिता संज्ञा हो ॥ ७५ ॥

१४८-विरामोऽवसानम् ॥ ७६ ॥ १ । ४ । १०९ ॥

समाप्ति अर्थात् जिसके आगे कोई वर्ण न हो, उस अन्तिम वर्ण की अवसान संज्ञा होवे ॥ ७६ ॥

इति संज्ञाप्रकरणं समाप्तम् ॥
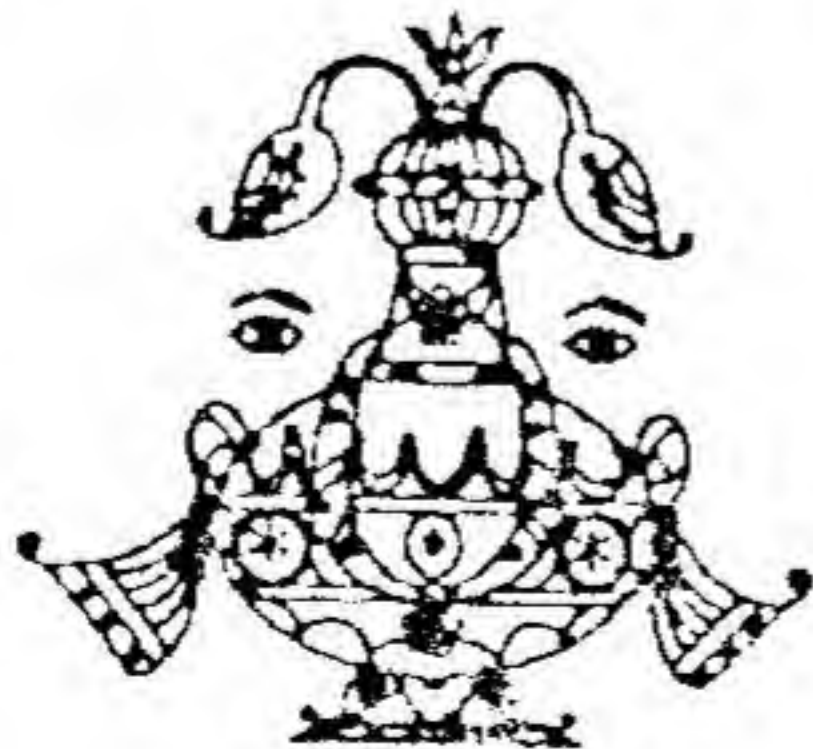
अथ परिभाषाप्रकरणम्

१४९-समर्थः पदविधिः ।। ७७ ।। २ । १ । १ ।।

जो कुछ इस व्याकरणशास्त्र में पद को विधानकार्य सुना जाता है, वह समर्थ को जानना चाहिये ।

व्याकरण में प्रथम यही परिभाषा सर्वत्र प्रवृत्त होती है, क्योंकि **"अपदं न प्रयुञ्जीत"** - अपद अर्थात् सुप् तिङ् प्रत्यय से रहित शब्द का प्रयोग कभी न करना चाहिये । और सुप् तथा तिङ् भी समर्थ ही से विधान होते हैं असमर्थ से नहीं, क्योंकि बिना संज्ञा के सामर्थ्य नहीं होता, सामर्थ्य के बिना उससे प्रत्यय की उत्पत्ति [illegible] हो सकती, और इसके बिना प्रयोग भी नहीं बन सकता । क्योंकि —

"न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न च केवलः प्रत्ययः । प्रकृति-प्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः" ।।

इस महाभाष्य के वचन का अभिप्राय यही है कि दोनों के मिले बिना कोई भी प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकता । इस कारण सामर्थ्य से [के] बिना किसी प्रत्ययकार्य्य वा कोई व्याकरण की बात पृथक् नहीं हो सकती । इसलिये इसी सूत्र के भाष्य में —

परिभाषायां च सत्यां यावान् व्याकरणे पदगन्धो नाम स सर्वः संगृहीतो भवति" ।। महा. २ । १ । १ ।।

यह परिभाषा सूत्र है । इसलिये जो कुछ व्याकरण का विषय है, उस सब में इस सूत्र की प्रवृत्ति अवश्य होती है, क्योंकि जैसे बिना धातुसंज्ञा के भ्वादि शब्द कृत्संज्ञक प्रत्ययों की उत्पत्ति में समर्थ नहीं होते, और कृतसंज्ञक प्रत्यय भी धातु से परे नहीं हो सकते, वैसे बिना प्रातिपदिक संज्ञा के 'टाप्'

आदि स्त्री और 'अण्' आदि तद्धित प्रत्यय उत्पन्न ही नहीं हो सकते । क्योंकि बिना प्रातिपदिक संज्ञा के उनका सामर्थ्य ही नहीं है, जो सुप् आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति करा सकें, और 'सुप्' स्त्री और तद्धितसंज्ञा के बिना सुप आदि प्रातिपदिकों के आगे होने में समर्थ हो नहीं हो सकते । ऐसे ही सर्वत्र समझ लेना ।

इस सूत्र में दो पक्ष है, प्रथम पक्ष में दो पद और दूसरे पक्ष में एक पद है । इससे आचार्य का यह अभिप्राय विदित होता है कि प्रथमपक्ष से व्यपेक्षाभाव सामर्थ्य, जिसमें पृथक्-पृथक् पद अलग-अलग स्वर और भिन्न भिन्न विभक्ति रहती हैं उसका प्रकाश और दूसरे पक्ष से एकार्थीभाव सामर्थ्य अर्थात् जिसमें अनेक पदों का एक पद, अनेक स्वरों का एक स्वर और अनेक विभक्तियों की एक विभक्ति हो जाती है ।

और जो व्यपेक्षा सामर्थ्य समर्थ शब्द के आगे उत्तरपद 'विधि' शब्द का लोप भी किया है, इससे यह सिद्ध होता है कि व्याकरण आदि सब शास्त्र और लोकव्यवहार में भी समर्थ के लिये सब विधान है, असमर्थ के लिये कुछ भी नहीं । जैसे आंखवाला देखने में समर्थ होता है, इसलिये उसको देखने का उपदेश भी करते हैं कि इसको तू देख, अन्धे को कोई नहीं कह सकता, क्योंकि वह देखने में समर्थ नहीं है । वैसे ही कोई सामर्थ्यवाले के लिये जो कुछ विधान करता है, वह शुद्ध और सफल और जो कोई इससे उलटा करता है, वह अशुद्ध और निष्फल समझा जाता है ।

इसलिये यह सूत्र जितने व्याकरण आदि शास्त्रों के विषय है, उस सब में लगता है । इससे यह भी समझना कि जो भट्टोजिदीक्षित ने कौमुदी में इस सूत्र को समास ही में प्रवृत्त किया है सो अशुद्ध ही है ।। ७७ ॥

१५०-इको गुणवृद्धी ।। ७८ ।। १ । १ । ३ ।।

जहां-जहां गुण और वृद्धि शब्द करके गुण और वृद्धि का विधान करें, वहां-वहां इक् ही के स्थान में गुण और वृद्धि होते हैं ।

ऐसा सर्वत्र व्याकरणशास्त्र में समझ लेना । यहां अ, ए और ओ की गुण संज्ञा, आ, ऐ और औ की वृद्धि संज्ञा है । जैसे - कर्त्ता, यहाँ ऋ के स्थान में [आख्या. २१ तथा] सन्धि. (८४) से अ गुण होकर (८४) से रपर हो गया है । चेता, यहां इकार के स्थान में एकार, और स्तोता, यहां उकार को ओकार गुण [आख्या. २१ से] हुआ है ।

वृद्धि — [अकार्षीत्] यहाँ ऋ के स्थान में आर् वृद्धि । [अनैषीत्; अचैषीत्] यहां ई और इ के स्थान में ऐ और [अलावीत्; अस्तावीत्]; यहाँ ऊ और उ के स्थान के औ वृद्धि [आख्या. १५८ से] हुई है ।

'इक्' ग्रहण इसलिये है कि—अन्तगः, यहाँ ओष्ठस्थानी 'गम्' धातु के मकार व्यञ्जन के स्थान में ओष्ठस्थानी ओकार गुण न होवे । और 'गुणवृद्धि' ग्रहण इसलिये है कि —जहां संज्ञा शब्दों से गुण वृद्धि कहें, वहां इक् के स्थान में हों । और 'द्यौः' यहाँ दिव शब्द को औकारादेश कहा है [ना. १५३ से] सो संज्ञापूर्वक विधि के न होने से वकार के स्थान में होता है। 'सः' यहाँ दकार के स्थान में अकारादेश होता है । [ना. १७८ से] ।। ७८ ॥

१५१-आद्यन्तवदेकस्मिन् ।। ७९ ॥ १ । १ । २० ॥

जैसे आदि और अन्त में कार्य्य होते हैं, वैसे एक के भी हों । अर्थात् अनेकाश्रित कार्य भी एक को हो जावे ।

जिससे पूर्व कोई न हो और परे हो उसको 'आदि' और जिससे परे कोई न हो पूर्व हो उसको 'अन्त' कहते हैं । इस कारण आदि अन्त को कहे हुए कार्य्य एक में नहीं बन सकते, इसलिए यह परिभाषा है ।

जैसे - "**आर्धधातुकस्येड् वलादेः** ।।' [अ. ७ । २ । ३५ आख्या. ४६] अङ्ग से परे वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम होता है, सो, करिष्यति' हरिष्यति' यहाँ तो स्य प्रत्यय वलादि के होने से हो जाता है, और 'जोषिषत्; मन्दिषत्' यहां केवल एकाक्षर (सिप् का स्) वल् प्रत्यय होने से नहीं प्राप्त होता था । इस परिभाषा सूत्र से यहां भी हो गया ।

अन्तवत् - जैसे — 'घटाभ्याम्; पटाभ्याम्' यहां अदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है [नामिक २८ से] 'आभ्याम्' यहां केवल अकार के होने से दीर्घ नहीं प्राप्त, था, अन्तवत् मान के हो जाता है ।। ७९ ॥

१५२-आद्यन्तौ टकितौ ।। ८० ॥ १ । १ । ४५ ।।

जो टकार और ककार अनुबन्धवाले आगम हों, वे आदि अन्त में यथासंख्य करके हो जावें ।

अर्थात् टित् आगम जिसको कहा हो उसी के आदि में और कित् जिसको विधान किया हो उसके अन्त में हो जावे । जैसे —टित् — पुरुषाणाम्, यहां नुट् आम् के आदि में । अभवत् यहां अट् का आगम धातु के आदि में । भविता, यहां इट् का आगम प्रत्यय के आदि में हुआ है । कित् — सोमसुत्; जटिलो भीषयते, यहां तुक् [ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्] और पुक् [आख्या. ४९०] आगम भी धातु के अन्त में हुए हैं, इत्यादि ।। ८० ॥

१५३-मिदचोऽन्त्यात्परः ।। ८१ ।। १ । १ । ४६ ॥

जो मित् आगम वा प्रत्यय है, वह अन्त्य अच् से परे होता है । जैसे—नुम्—निन्दति; नन्दति । श्नम्—रुणद्धि । मुम्—वाचंयमः । नुम्—कुलानि; यशांसि इत्यादि ।। ८१ ॥

१५४-एच इग्घ्रस्वादेशे ।। ८२ ।। १ । १ । ४७ ॥

जहां-जहां एच् के स्थान में ह्रस्व आदेश विधान करें, वहाँ-वहाँ इक् ही ह्रस्व हो जावें ।

जैसे—गो-चित्रगुः; शबलगुः; यहां ओकार के स्थान में उकार। रै—अतिरि, यहाँ ऐकार के स्थान में इकार । और नौ—अधिनु, यहाँ औकार के स्थान में उकार आदेश होता है, इत्यादि ।। ८१॥

१५५-षष्ठी स्थानेयोगा ।। ८३ ॥ १ । २ । ४८ ।।

जो-जो इस व्याकरणशास्त्र में अनियतयोगा षष्ठी [अर्थात् जिसका नियम

नहीं किया कि इस षष्ठी का योग इसमें हो] है, वह वह स्थानेयोगा समझनी चाहिए, अर्थात् स्थान में उसका योग होवे ।

जैसे—"अलोऽन्त्यस्य" ।। [सन्धि. ८६] यहां 'अलः; अन्त्यस्य' ये दोनों षष्ठी हैं । सो अनियतयोगा होने से स्थानेयोगा समझी जाती हैं । जैसे- "इको गुणवृद्धी ।। [सन्धि. ७८] यहां 'इकः' यह षष्ठी है, इक् के स्थान में गुणवृद्धि होवे ।

'स्थान' शब्द का लाभ इसी परिभाषा से सर्वत्र होता है, और जहां-जहां षष्ठी का नियम कर दिया है कि इस षष्ठी का योग यहाँ हो, वहां-वहां स्थान शब्द की उपस्थिति नहीं होती । जैसे— "शास इदङ् हलो" [आख्या. ३७१] यहां 'शास' धातु की उपधा को इत् आदेश है, इत्यादि ।। ८३॥

१५६-स्थानेऽन्तरतमः ।। ८४ ।। १ । १ । ४९ ।।

जो-जो आदेश जिस-जिस के स्थान में प्राप्त हो, वह-वह अन्तरतम अर्थात् सदृशतम हो ।

'अंतरतम' उसको कहते हैं कि जो अत्यन्त सदृश हो । जो किसी के स्थान में होता है, वही 'आदेश' कहाता है । सो स्थान शब्द का लाभ तो पूर्व परिभाषा से हुआ, परन्तु जो स्थान में प्राप्त आदेश है वह कैसा होना चाहिये, सो नियम इस परिभाषा से करते हैं ।

सादृश्य चार प्रकार का होता है, तद्यथा — स्थानकृतम्, अर्थकृतम्, प्रमाणकृतम्, गुणकृतञ्चेति । 'स्थानकृत अन्तरतम' उसको कहते हैं कि जो-जो कण्ठ आदि स्थान आदेश का हो वही आदेश का भी होना अवश्य है। जैसे — 'दण्ड + अग्रम्' = दण्डाग्रम्, यहाँ पूर्व पर कण्ठस्थानी दो अकारों के स्थान में दीर्घ एकादेश कहा है, सो स्थानकृत आन्तर्य्य मान के कण्ठस्थानवाले दोनों अकारों के स्थान में कण्ठस्थानवाला दीर्घ ही आकार होता है, भिन्न स्थान होने से ईकार, ऊकार नहीं होते ।

'अर्थकृत आन्तर्य्य' उसको कहते हैं कि जहाँ जैसा एक दो और बहुत अर्थों का बोधक स्थानी हो, वहां वैसा ही आदेश भी होना चाहिये, स्थान

सदृश हो वा नहीं हो । जैसे — "तस्थस्थमिपां तान्तन्ताम:" । [आख्या. ६९] = भवताम् यहां 'तस्' प्रत्यय दो अर्थों का बोधक स्थानी है, उसके स्थान में 'ताम्' आदेश भी दो अर्थों का बोधक ही होता है । इसी प्रकार 'थस्' आदि के स्थान में भी समझना चाहिये ।

'प्रमाणकृत सादृश्य' वह कहाता है कि जो एकमात्रिक स्थानी हो तो उसके स्थान में एकमात्रिक ही आदेश भी होवे, और द्विमात्रिक के स्थान में द्विमात्रिक आदेश होना अवश्य है, इत्यादि । जैसे 'अमुष्मै; अमूभ्याम्' यहां एक मात्रिक स्थानी है, उसके स्थान में एकमात्रिक ही, और द्विमात्रिक के स्थान में द्विमात्रिक आदेश होता है ।

'गुणकृत आन्तर्य्य' उसको कहते हैं कि जो अल्पप्राण स्थानी हो तो उसके स्थान में अल्पप्राणवाला आदेश, और महाप्राण स्थानी हो तो महाप्राणवाला ही आदेश होवे । जैसे — 'वाग्घसति; त्रिष्टुब्भसति' यहां हकार के स्थान में पूर्वसवर्ण आदेश की प्राप्ति में जैसा हकार नादवान् और महाप्राण गुणवाला है उसके स्थान में आदेश भी वैसा ही होना चाहिये । सो ये दोनों गुण वर्गों के चतुर्थ वर्णों में हैं, इस कारण गुणकृत आन्तर्य्य मान के घकार और भकार ही होते हैं, इत्यादि ।

प्रश्न— भा.-स्थान इत्यनुवर्तमाने पुनः स्थानग्रहणं किमर्थम् ?
महा. १ । १ । ४९ ।।

पूर्वसूत्र से स्थान की अनुवृत्ति आ जाती, फिर स्थानग्रहण का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर—भा. — यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं बलीयो यथा स्यात् ।। महा. १ । १ । ४९ ।।

जहां अनेक प्रकार के अर्थात् स्थानकृत आदि दो, तीन वा चारों आन्तर्य मिलते हों, वहां स्थानकृत जो आन्तर्य है, अत्यन्त बलवान् होने से वही प्रवृत्त किया जाता है ।

जैसे — 'चेता'; 'स्तोता' यहां एकमात्रिक इकार उकार के स्थान में प्रमाणकृत आन्तर्य को मानकर अकार गुण पाता है सो न हो । स्थानकृत आन्तर्य से तालु ओष्ठ स्थान वाले एकार और ओकार हो जाते हैं, यह द्वितीय स्थानग्रहण का प्रयोजन है ।

और यहां 'तम' ग्रहण इसलिये है कि — वाग्घसति, यहां महाप्राण हकार के स्थान में महाप्राण आदेश किया चाहें तो द्वितीय खकार प्राप्त है, और जो नादवान् किया चाहें तो तृतीय गकार प्राप्त होता है, तमग्रहण के होने से वर्गों का घ आदि चौथा वर्ण महाप्राण और नाद गुणावाला है, वह होता है ।। ८४ ॥

१५७-उरण् रपरः ।। ८५ ।। १ । १ । ५० ।।

जहां ऋ के स्थान में अण् का प्रसङ्ग अर्थात् अण् करने लगें, वहां तत्काल ही रपर हो, अर्थात् उस अण् से परे रेफ भी हो जावे ।

जैसे—'कर्त्ता; हर्त्ता'—यहां ऋ के स्थान में अकार गुण हुआ है, इसी से अण् से परे रेफ भी हो जाता है । 'किरिः; गिरिः;—यहाँ जो 'कृ' और 'गृ' धातु के स्थान में इकारादेश किया है, वह रपर हो गया है और 'द्वैमातुरः'—यहाँ उकार भी रपर हुआ है ।

यहां 'उ' ग्रहण इसलिये है कि — अवदातं मुखम्, यहां 'दैप्' धातु के ऐकार के स्थान में आकार हुआ है, सो रपर न हो जावे । 'अण्' ग्रहण इसलिये है कि — सौधातकिः, यहां ऋकार के स्थान में अकङ् आदेश [स्त्री. १७३ से] होता है, सो रपर न होवे ।। ८५ ॥

१५८—अलोऽन्त्यस्य ।। ८६ ।। १ । १ । ५१ ।।

जहां-जहां षष्ठीनिर्दिष्ट के स्थान में आदेश कहें, वहां-वहां उस के अन्त्य अल् के स्थान में होवें ।

जब "त्यदादीनामः" [ना. १७८ से] विभक्ति के परे त्यदादि शब्दों के स्थान में अकारादेश होवे, ऐसा कहें, तब इसी परिभाषा की प्रवृत्ति होवे

कि जो अन्त्य वर्ण दकार है उसके स्थान में अकारादेश हो जाता है । जैसे—स्य: । स: । य: । इदम् । इत्यादि ।। ८६ ॥

१५९—ङिच्च ।। ८७ ।। १ । १ । ५२ ।।

जो ङित् अर्थात् जिसका ङकार इत् जाय, ऐसा अनेकाल् भी आदेश अन्त्य अल् के स्थान में हो ।

यहां पूर्व सूत्र की अनुवृत्ति आती है । जैसे — अनङ् — 'होतापोतारौ; मातापितरौ' यहां अनङ् आदेश अन्त्य अल् ऋकार के स्थान में होता है । यह सूत्र (८९) सूत्र का अपवाद है ।। ८७ ॥

प्रश्न — तातङ् आदेश अन्त्य अल् के स्थान में प्राप्त है, सो क्यों नहीं होता ?

(उत्तर) - भा.-एवं तर्ह्येतदेव ज्ञापयति, न तातङन्त्यस्य स्थाने भवतीति-यदेतं ङित्तं करोति । इतरथा हि लोट एरुप्रकरण एव ब्रूयात् तिह्योस्तादाशिष्यन्यतरस्यामिति ।। महा. १ । १ । ५२ ।।

यह इसी सूत्र पर महाभाष्यकार ने समाधान किया है कि—जिस कारण तातङ् आदेश ङित् किया है, इसी से आचार्य की शैली स्पष्ट विदित होती है कि यह अन्त्य अल् स्थान में नहीं होता । जो अन्त्य अल् के स्थान में करना होता तो तृतीयाऽध्याय के चतुर्थपाद में "लोटो लङ्वत्"; "एरु:" [अ. ३ । ४ । ८५-८६ आख्या. ६८-६५] इन सूत्रों के आगे 'तात्' आदेश कहते, इस में लाघव भी बहुत आता था ।

जो लोट् लकार का 'ति' और 'हि' का होकर उसको तात् आदेश विकल्प करके होवे, ऐसा कहने से अन्त्य अल् इकार के स्थान में हो ही जाता, फिर अङ्मात्र के अधिक पढ़ने और सप्तमाध्याय के प्रथमपाद में तातङ् आदेश के कहने से ठीक जाना जाता है कि तातङ् आदेश में ङित् करण गुण वृद्धि प्रतिषेध आदि के लिये हैं, इस कारण अन्त्य अल् के स्थान में नहीं होता ।। ८७ ॥

१६०-आदेः परस्य ॥ ८८ ॥ १ । १ । ५३ ॥

जो पर अर्थात् उत्तर को कार्य्य कहें, वह आदि अल् के स्थान में समझना चाहिये ।

यह सूत्र ''तस्मादित्युत्तरस्य'' [सन्धि. १००] इस सूत्र का शेष है । यहां पढ़ने का प्रयोजन यह है कि—अल् की अनुवृत्ति इसमें आ जावे, अन्यत्र पढ़ने से फिर 'अल्' ग्रहण करना होता है । जैसे—'आसीनोऽधीते' यहां 'आस' धातु से उत्तर 'आन' को ईकारादेश कहा है, सो उसके आदि अल् आकार के स्थान में हो जाता है ।

'द्वीपम्'—यहां द्वि शब्द से परे अप् शब्द को ईकारादेश कहा है, सो उसके आदि अल् अकार के स्थान में हो जाता है ॥ ८८ ॥

१६१-अनेकाल् शित् सर्वस्य ॥८९ ॥ १ ।१ ।५४ ॥

जो अनेकाल् और शित् आदेश हो, वह सम्पूर्ण के स्थान में हो जावे।

'अनेकाल्' जिसमें अनेक वर्ण हों । 'शित्' अर्थात् जिसका शकार इत् जाय । जैसे—''अस्तेर्भूः'' [आख्या. ३५६] यहाँ 'अस्' धातु के स्थान में 'भू' आदेश अनेकाल् होने से सब के स्थान में हो जाता है—भविष्यति, भवितव्यम् इत्यादि । शित्—''इदम इश्'' [स्त्रै. ७३५] विभक्ति के परे 'इदम्' शब्द के स्थान में 'इश्' आदेश होता है, सो शित् होने से सब के स्थान में हो जाता है—इतः; इह, इत्यादि ॥ ८९ ॥

१६२-स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥९० ॥१ । १ ।५५ ॥

जो आदेश है वह स्थानी के तुल्य होवे, अर्थात् जो काम स्थानी से सिद्ध होता है वही आदेश से भी होवे, परन्तु जो अलाश्रयविधि कर्त्तव्य हो तो आदेश स्थानिवत् न हो ।

'स्थानी' उसको कहते हैं कि जो प्रथम तो हो, पीछे न रहे । और 'आदेश' उसको कहते हैं कि जो प्रथम न हो और पीछे [प्रकट] हो जावे।

जो एक के तुल्य दूसरे को मानकर कोई काम करना है, उसको 'अतिदेश' कहते हैं । स्थानी और आदेश के पृथक् पृथक् होने से स्थानी का कार्य आदेश से नहीं निकल सकता, इसलिये आदेश को स्थानिवत् अतिदेश करते हैं ।

जैसे—'राजा'—यहां विभक्ति लोप होने पर भी पदसंज्ञा रहती है, इत्यादि। 'अवधिषीष्ट'—यहां 'हन' धातु के स्थान में 'वध' आदेश हुआ है, उसको हन धातु का कार्य आत्मनेपद स्थानिवत् मानकर हो जाता है । 'पुरुषाय' - यहाँ जो 'ङे' विभक्ति के स्थान में 'य' आदेश होता है, उसको सुप् मानकर [ना. २८ और १५ से] दीर्घ और पदसंज्ञा आदि कार्य भी मानते हैं, इत्यादि।

यहाँ 'वत्' करण इसलिये है कि - संज्ञाधिकार में यह परिभाषासूत्र पढ़ा है, सो आदेश की स्थानी संज्ञा न हो जावे । 'आदेश' ग्रहण इसलिये है कि — आदेशमात्र स्थानिवत् हो जावे, अर्थात् जो अवयव के स्थान में आदेश होते हैं वे भी स्थानिवत् हो जावें, जैसे — 'भवतु' यहाँ इकार के साथ में उकार हुआ है, [आख्या. ६६ से] उसके स्थानिवत् होने से ही पदसंज्ञा आदि होते हैं । 'अनल्विधि' ग्रहण इसलिये हैं कि — अल्विधि में स्थानिवद्भाव न हो ।

'अल्विधि' शब्द में कई प्रकार का समास होता है । अल् से परे जो विधि; अल् की जो विधि; अल् में [अर्थात् अल् परे रहने पर] जो विधि; और अल् करके जो विधि करना, वहाँ स्थानिवद् भाव न हो । जैसे- अल् से परे विधि—द्यौ: यहां दिव् शब्द के वकार को औकारादेश हुआ है, उस हल् वकार से परे सु विभक्ति का लोप 'हल्ङ्याब्भ्यो.'' ।। [ना. ५०] सूत्र से प्राप्त है, सो नहीं होता, क्योंकि यहां हल् से परे सु नहीं है।

अल् की जो विधि = 'द्युकामः'—यहां दिव् शब्द के वकार को उकारादेश हुआ है । सो जो स्थानिवत् माना जाय तो उस वकार का लोप 'लोपो व्योर्वलि'। [अ. ६ । १ । ६४] इस सूत्र से हो जावे । अल् में जो विधि—'क इष्टः'—यहां यकार के स्थान में इकार संप्रसारण हुआ है, सो जो स्थानिवत् माना जाय तो ''हशि च' ।। [सन्धि. २५४] सूत्र से उत्व प्राप्त है, सो तो नहीं होता ।

अल् करके जो विधि वहां स्थानिवत् न हो—'व्यूढोरस्केन; महारस्केन'—यहाँ विसर्जनीय के स्थान में सकारादेश हुआ है । उसको यदि स्थानिवत् मानें तो विसर्जनीय जो अयोगवाहों में प्रसिद्ध है, उसका अट् प्रत्याहार में पाठ मानकर नकार को णकारादेश प्राप्त है, सो नहीं होता, इत्यादि इस सूत्र का महान् विषय है, विशेष महाभाष्य में देख लेना ।। ९० ॥

१६३-अचः परस्मिन् पूर्वविधौ ।। ९१ ॥ १ । १ । ५६ ॥

जिस अच् के स्थान में आदेश होने वाला हो, उसके परे पूर्व को विधि करना हो, तो अच् के स्थान में जो आदेश है, वह स्थानिवत् हो जावे।

जिसलिये पूर्व सूत्र में अल्विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध किया और उसी विषय में इस सूत्र में स्थानिवद्भाव का विधान है, इसलिये यह सूत्र उसका अपवाद है । जैसे—'पटयति'—यहाँ पटु शब्द से णिच् प्रत्यय के परे उसके उकार का लोप हुआ है, उस उकार को इस सूत्र से स्थानिवत् मानने से वृद्धि नहीं होती ।

यहां 'अच्' ग्रहण इसलिये है कि—हल् के स्थान में जो आदेश है, वह स्थानिवत् न हो । जैसे—'आगत्य' जो यहाँ मकार का लोप हुआ है, उसको स्थानिवत् मानें तो [सन्धि. २०६ से] तुक् का आगम नहीं पावे।

''परस्मिन्' ग्रहण इसलिये है कि—जहाँ परनिमित्तक अच् का आदेश न हो, वहां स्थानिवद्भाव न हो । जैसे—'आदीध्ये'—यहां जो इट् प्रत्यय को [आख्या. १९ से] एकारादेश होता है, वह परिनिमित्त नहीं है, उसको यदि स्थानिवत् मानें तो 'दीधी' धातु के ईकार का लोप 'यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः''। [आख्या. ३७३] से हो जावे, सो नहीं होता ।

'पूर्वविधि' ग्रहण इसलिये है कि—जहाँ परविधि कर्त्तव्य हो वहां स्थानिवद्भाव न हो । जैसे—''नैधेयः' यहां जब 'डुधाञ्' धातु के आकार का लोप [आख्या. २४४ से] कित् प्रत्यय के परे होता है, तब निधि शब्द बनता है । उस आकार को यदि स्थानिवत् मानें, तो द्व्यच् प्रातिपदिकाश्रित

जो ढक् प्रत्यय [स्त्रै. २०२ से] होता है, वह नहीं हो सके । परविधि यही है कि प्रातिपदिक से परे प्रत्यय होते हैं ।। ९१ ।।

१६४ - न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वर सवर्णानुस्वारदीर्घ-जश्चर्विधिषु ।। ९२ ।। १ । १ । ५७ ।।

पदान्त, द्विर्वचन, वरे, यलोप, स्वर, सवर्ण, अनुस्वार, दीर्घ, जश्, चर् इन विधियों के करने में जो पर को निमित्त मान के आदेश होता है, वह स्थानिवत् न होवे ।

जो पूर्व सूत्र से स्थानिवद्भाव का विधान किया है, उसी का नियत स्थानों में यह सूत्र निषेध करता है ।

जैसे—**पदान्तविधि—**'कौ स्तः'—यहां 'अस्' के अकार का लोप पर को मानकर हुआ है, [आख्या. ३५२ से] उसको स्थानिवत् मान के जो [पदान्त ''कौ'' के औकार को] आव् आदेश प्राप्त है सो नहीं होता।

द्विर्वचनविधि—'दद्ध्यत्र' — यहां इकार को यणादेश पर को मानकर हुआ है, उसके स्थानिवत् होने से धकार को द्विर्वचन नहीं पाता, [अभीष्ट यह है कि द्विर्वचन हो जावे] इसलिये द्विर्वचनविधि में स्थानिवद्भाव का निषेध किया है ।

वरे विधि—अर्थात् जो वरच् प्रत्यय के परे लोप होता है, वहाँ स्थानिवद्भाव न होवे । जैसे—'यायावरः'—जो यहाँ आकार का लोप परिनिमित्त हुआ है, उसके स्थानिवत् होने से आकार का लोप [आख्या. २४४ से] प्राप्त है, सो न हुआ ।

य-लोपविधि—'ब्राह्मणकण्डूतिः'—यहाँ यक् प्रत्यय के अकार का लोप पर को मानकर हुआ है, उसके स्थानिवत् होने से यकार का लोप नहीं पाता था । [इसलिये य-लोप विधि में स्थानिवत् का निषेध किया] ।

स्वरविधि—'चिकीर्षकः'—यहाँ ण्वुल् प्रत्यय के परे 'चिकीर्ष' धातु के अकार का लोप [आख्या. १७२ से] होता है, उसके स्थानिवत् मानने

से लित् प्रत्यय से पूर्व 'की' में उदात्त स्वर इष्ट है, [सौवर. ४९ से] वह नहीं हो सकता, सो हो गया ।

सवर्णविधि—'रुन्ध:'—यहाँ श्नम् प्रत्यय के अकार का लोप हुआ है [आख्या. ३५२ से], उसके स्थानिवत् होने से धकार के परे अनुस्वार को परसवर्ण [सन्धि. १९७ से] अर्थात् नकारादेश नहीं पाता था, सो हुआ ।

अनुस्वारविधि—'शिषन्ति'—यहाँ श्नम् प्रत्यय के अकार का लोप हुआ है, उसके स्थानिवत् होने से नकार को अनुस्वार नहीं प्राप्त होता था,[1] सो हो गया ।

दीर्घविधि—'प्रतिदीव्ना'—यहाँ 'प्रतिदिवन्' शब्द के अकार का लोप हुआ है, उसके स्थानिवत् होने से [दि के ईकार को] दीर्घ [''हलि च'' ना. १४२] नहीं पाता था, सो हो गया ।

जश्विधि—'सग्धि:'—यहाँ 'घस्' धातु के अकार का लोप हुआ है [आख्या. ३९२ से], उसके स्थानिवत् होने से क्तिन् प्रत्यय के तकार को धकार [आख्या. १४१] नहीं पाता था, सो हो गया ।

चर्विधि—'जक्षतु:' यहां भी 'घस्' के अकार का लोप हुआ है, उसके स्थानिवत् होने से घकार को [सन्धि २३५] ककारादेश नहीं प्राप्त होता था, सो हो गया ।। ९२ ॥

१६५ - वा. - प्रतिषेधे स्वरदीर्घयलोपविधिषु लोपाजादेशो न स्थानिवत् ।। ९३ ।। महा. १ । १ । ५७ ।।

जो सूत्र से पदान्त आदि विधियों में निषेध किया है, वह इस प्रकार से होना चाहिये कि स्वर दीर्घ और यलोपविधि के करने में लोपरूप जो

---

१. [क्योंकि ''नश्चापदान्तस्य झलि'' सन्धि. १९२, इस सूत्र से झल् परे होने पर एकपद में अनुस्वार होता है । अकारलोप के स्थानिवत् होने से झल् परे नहीं रहा] ।।

अच् के स्थान में आदेश है, वही स्थानिवत् न हो, अन्य आदेश तो स्थानिवत् हो ही जावे ।

जैसे **स्वरविधि—** 'पञ्चारत्न्य:'—यहां इकार के स्थान में यणादेश हुआ है [सन्धि. १७९ से], उसके स्थानिवत् होने से "इगन्तकालकपाल." अ. ६ । २ । २९ इस सूत्र से पूर्वपदप्रकृतिस्वर हो जाता है ।

दीर्घविधि—'किर्य्यो:'—यहाँ 'किरि' शब्द के इकार के स्थान में यणादेश हो गया है, उसके स्थानिवत् होने से [ना. १४२ से प्राप्त] दीर्घ नहीं होता।

यलोपविधि— 'वाय्वो:' यहां उकार के स्थान में वकार हुआ है, उसके स्थानिवत् होने से ["लोपो व्योर्वलि' से प्राप्त] यकार का लोप नहीं होता ।। ९३ ॥

१६६ - वा. - क्विलुगुपधात्वचङ्परनिर्ह्रासकुत्वेषूपसंख्यानम् ।। ९४ ।। महा. । १ । १ । ५७ ॥

यह दूसरा वार्तिक सूत्र के विषयों से अलग स्थानिवद्भाव का निषेध करता है । **क्वौ लुप्ते न स्थानिवत्** - जहां क्विप् प्रत्यय के परे किसी का लोप हुआ हो, वहां स्थानिवद्भाव न हो । जैसे—'लौ:'—यहाँ क्विप् प्रत्यय के परे णिच् प्रत्यय का लोप हुआ है, उसके स्थानिवत् नहीं होने से वकार के परे को ऊठ् आदेश [आ. ४५४ से] होता है ।

लुकि न स्थानिवत् — लुक् होने में स्थानिवद्भाव न हो । जैसे—'पञ्चपटु:'—यहाँ तद्धित प्रत्यय का लुक् होने ङीष् प्रत्यय के ईकार का लुक् हुआ है, उसके स्थानिवत् नहीं होने से 'पटु' शब्द को यणादेश नहीं होता।

उपधात्वे न स्थानिवत् - उपधा का कार्य्य करने में स्थानिवद्भाव न हो । जैसे—'पारिखीय:'—यहाँ 'परिखा' शब्द से चातुरर्थिक 'अण्' प्रत्यय के परे आकार के स्थानिवत् नहीं होने से 'पारिख' शब्द से खोपध छ प्रत्यय [वृद्धादके. अ. ४ । २ । १४० से] हो जाता है ।

चङ्परनिर्ह्रासे न स्थानिवत् - जहाँ चङ् प्रत्यय के परे किसी का लोप हो, वहाँ स्थानिवत् मानकर कोई न किया जावे । जैसे—'अवीवदत्'—यहां णिच् के परे णिच् का लोप हुआ है, उसके स्थानिवत् नहीं होने से उपधा को [आख्या. १७९ से] ह्रस्व हो जाता है ।

कुत्वे न स्थानिवत् — कुत्वविधि करने में स्थानिवद्भाव न हो । जैसे—'अर्कः'—यहाँ 'अर्च' धातु से घञ् प्रत्यय के परे णिच् प्रत्यय का लोप [आ. १७७ से] हुआ है, उसके स्थानिवत् नहीं होने से चकार को ककारादेश [चजोः कु घिण्ण्यतोः'' आ. ९४५ से] हो जाता है ।। ९४ ॥

१६७-वा. पूर्वत्राऽसिद्धे च ।। ९५ ॥ महा. १ । १ । ५७ ।।

इस तीसरे वार्तिक से अष्टाऽध्यायी के अन्त्य के तीन पादों के कार्य्य करने में स्थानिवद्भाव न हो ।

जैसे—''यायष्टिः'—यहाँ 'यङ्' प्रत्यय के अकार का लोप [आख्या. १७२ से] षकारादेश नहीं प्राप्त होता था, इत्यादि ।। ९५ ॥

१६८-द्विर्वचनेऽचि ।। ९६ ।। १ । १ । ५८ ।।

द्विर्वचननिमित्तक अजादि प्रत्यय परे हो, तो द्विर्वचन करने के लिये अच् के स्थान में जो आदेश है, वह स्थानिरूप ही हो जावे ।

इस सूत्र में स्थानिवद्भाव का विधान है, अर्थात् निषेध की अनुवृत्ति नहीं आती । इसी से यह भी अतिदेश हुआ । अतिदेश दो प्रकार के होते हैं-एक 'कार्यातिदेश' और दूसरा 'रूपातिदेश' ।

'कार्यातिदेश'—वह होता है कि आदेश को स्थानी के सदृश मानकर स्थानी का काम आदेश से ले लेना । और 'रूपातिदेश'—उसको कहते हैं कि स्थानी अपने स्थान में स्वयं आजावे । क्योंकि जहां स्थानी के समान आदेश को मानने से काम नहीं चलता, वहां रूपातिदेश माना जाता है । सो इस सूत्र में रूपातिदेश है । जैसे—'पपतुः'—यहां 'अतुस्' प्रत्यय के परे

[पा] धातु के अकार का लोप [आख्या. २४४ से] हुआ है, उसके स्थानिवत् होने से ही द्विर्वचन हो सकता है ।*

यहां 'द्विर्वचन' ग्रहण इसलिये है कि—'गोद:' यहाँ आकार का लोप [आ. २४४ से] अजादि प्रत्यय के परे हुआ है, परन्तु द्विर्वचननिमित्तक प्रत्यय नहीं, इससे स्थानिवद्भाव नहीं होता । [अन्यथा 'अक: सवर्णे दीर्घ:' सन्धि. १३० सूत्र से दीर्घत्व की प्राप्ति हो जाती] और 'अच्' ग्रहण इसलिये है कि—'देघ्मीयते'—यहाँ अजादि प्रत्यय परे नहीं, इससे स्थानिवत् नहीं होता ।। ९६ ॥

१६९-प्रत्ययलोपे प्रत्यलक्षणम् ।।९७ ॥१ ।१ ।६१ ।।

जहाँ प्रत्यय का लोप हो जावे, वहां उस प्रत्यय को मानकर कोई कार्य प्राप्त होवे तो हो जाय ।

जैसे - 'अग्निचित्' - यहाँ [पारिभाषिक ग्रन्थ के सूत्र ९९ के अनुसार] लोप के बलवान् होने से क्विप् प्रत्यय का लोप प्रथम ही हो जाता है, पीछे उसको मान कर तुक् का आगम [सन्धि. २०६ से] होता है ।

इस सूत्र में 'प्रत्यय' ग्रहण इसलिये है कि जहाँ सम्पूर्ण प्रत्यय का लोप हो वहीं प्रत्ययनिमित्तक कार्य हो, और जहाँ प्रत्यय के अवयव का लोप हो वहां न हो । जैसे—'आघ्नीत'—यहां प्रत्यय के अवयव के सकार का लोप हुआ है, सो जो प्रत्यय लक्षण होवे तो 'हन्' धातु की उपधा का लोप [आख्या. २१४ से] नहीं प्राप्त होवे ।

---

* यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि "एकाचो द्वे प्रथमस्य" अष्टा. ६/१ ।१ । सूत्रस्थ 'एकाच:' की अनुवृत्ति "लिटि धातोरनभ्यासस्य" (आख्या. ३६, अष्टा. ६ । १ । ८ ।।) सूत्र में आती है अत: एकाच् होने पर ही द्विर्वचन हो सकता है । आकार लोप हो जाने पर अच् का ही अभाव हो जाने से द्विर्वचन की प्राप्ति नहीं थी, इसलिये उस अकार को वहां मानकर यहां द्विर्वचन हो जाता है ।

दूसरा 'प्रत्यय' ग्रहण इसलिये है कि प्रत्यय के लोप में वर्णाश्रय कार्य प्राप्त होता हो, सो न हो । जैसे—राय: कुलम् = 'रैकुलम्'—यहाँ प्रत्यय के लोप में एच् प्रत्याहार के आश्रय ऐका को आय् आदेश [सन्धि. १८० से] प्राप्त है, सो नहीं हुआ ।। ९७ ॥

१७०-न लुमताङ्गस्य ।। ९८ ॥ १ । १ । ६२ ।।

जहाँ लुक्, श्लु और लुप् इन शब्दों से प्रत्यय का अदर्शन हुआ हो, वहां उस प्रत्यय के परे जिसकी अङ्ग संज्ञा हो, उसको प्रत्ययलक्षण मानकर कार्य न हो । पूर्व सूत्र में जो प्रत्ययलक्षण कार्य सामान्य से कहा है, उसका इस सूत्र से विशेष-विषय में निषेध करते हैं । जैसे — 'गर्गा:' यहां [स्त्रैण. १८२ से] यञ् प्रत्यय को मानकर वृद्धि [स्त्रैण. ९१४ से] और आद्युदात्त स्वर [सौव. २९ से] प्राप्त है सो नहीं होते ।

इस सूत्र में 'लुमता' ग्रहण इसलिये है कि—'धार्यते—यहाँ णिच् प्रत्यय का लोप [आख्या. १७७ से] हुआ है, इससे प्रत्ययनिमित्तक कार्य जो वृद्धि [आख्य. ६० से] है उसका निषेध नहीं होता ।। ९८ ॥

१७१-तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ।।९९ ॥१ ।१ ।६५ ।।

जो शब्द सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट पढ़ा हो, उससे जो पूर्व - शब्द वा वर्ण हो उसी को कार्य हो, अर्थात् उससे परे और व्यवधानवाले को न होवे ।

इस सूत्र में 'इति' शब्द अर्थ का बोध होने के लिये पढ़ा है, अन्यथा 'तस्मिन्' शब्द जहाँ पढ़ते वहीं पूर्व का कार्य होता । जैसे—'दधि+ अत्र'—यहां अकार सप्तमीनिर्दिष्ट है, उससे पूर्व जो इकार है, उसी को कार्य होता है ।

इसमें 'निर्दिष्ट' ग्रहण इसलिये है कि — व्यवधान में यणादेश न हो। जैसे—'समिध:'—यहां धकार [के] व्यवधान में यण् नहीं होता ।। ९९ ॥

१७२-तस्मादित्युत्तरस्य ।। १०० ॥ १ । १ । ६६ ।।

जो पञ्चमी विभक्ति से निर्देश किया कार्य है, वह व्यवधानरहित पर के स्थान में हो ।

पूर्वसूत्र से यहां 'निर्दिष्ट' शब्द की अनुवृत्ति आती है । 'इति' शब्द यहां भी पूर्वोक्त प्रयोजन के लिये है । जैसे—'द्वीपम्'—यहाँ 'द्वि' शब्द से परे 'अप्' शब्द को ईकारादेश [द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् ।। सामा. ३५२ से] होता है ।

इस सूत्र में 'निर्दिष्ट' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि अत्यन्त समीपवाले को कार्य हो । 'अन्तर्दधाना आप:' — यहाँ 'अप्' शब्द को [दधाना:'' का] व्यवधान होने से ईकारादेश न होवे । ''आदे: परस्य' ।। [सन्धि. ८८] यह सूत्र लिख चुके हैं, सो इसी का शेष हैं ।। १०० ॥

१७३-स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा ।।१०१।।१।१।६७ ॥

व्याकरणशास्त्र में शब्द का जो रूप है, उसी का ग्रहण होवे, शब्दशास्त्र में जो संज्ञा है उसको छोड़ के अर्थात् उसके पर्य्यायवाची और विशेषवाची का ग्रहण न हो ।

जैसे लोक में यह परम्परा है कि शब्द के उच्चारण से अर्थ की प्रतीति होती है, जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'गौ' लाओ, तो चार पगवाली व्यक्ति विशेष को ले आता है, वैसे व्याकरण में शब्दों से कार्य कहे हैं, अर्थों से उनका होना तो कदापि सम्भव नहीं । जैसे अग्नि के पर्यायवाची जितने शब्द हैं, उन सब से वह कार्य प्राप्त होता था, इस दोष के निवारण के लिये इस सूत्र का आरम्भ किया है ।

जैसे—'गौ' शब्द का कोई कार्यविधान किया है वह उसके पर्यायवाची 'धेनु' आदि शब्दों से और विशेषवाची 'कृष्णा' आदि शब्दों से न हो ।

इस सूत्र में 'रूप' ग्रहण इसलिये है कि शब्द का सम्बन्धी जो अर्थ है, उसका ग्रहण न होवें ।। १०१ ॥

जो इस सूत्र पर चार वार्तिक हैं, सो लिखते हैं -

१७४-वा.-सित्तद्विशेषाणां वृक्षाद्यर्थम् ।। १०२ ।।
महा. । १ । १ । ६७ ।।

सित् निर्देश करना चाहिये, अर्थात् जिन-जिन शब्दों के विशेषवाची शब्दों का ग्रहण इष्ट है, वहां-वहां एक सकार अधिक पढ़कर एक नवीन संकेत करना चाहिये, जिससे वृक्ष आदि शब्दों के विशेषवाची शब्दों का बोध हो जावे ।

जैसे—"विभाषा वृक्षमृग." [सामा. ३११] इत्यादि एकवचन प्रकरण में सामान्यवाची 'वृक्ष' आदि शब्दों के ग्रहण में विशेषवाची 'न्यग्रोध' आदि का भी ग्रहण होता है । जैसे— प्लक्षन्यग्रोधम्; प्लक्षन्यग्रोधाः, इत्यादि ।।

१७५-वा.-पित्पर्यायवचनस्य च स्वाद्यर्थम् ।। १०३।।
महा. १ । १ । ६७ ।।

जिन शब्दों के पर्यायवाची शब्दों और उनके विशेषवाची शब्दों का ग्रहण और अपने रूप का ग्रहण इष्ट है, वहां-वहां पित्संकेत करना चाहिये।

जैसे—"स्वे पुषः" ।। [आख्या. १५६१] ।। 'स्वपोषं पुष्यति—यहां अपने स्वरूप का ग्रहण है । 'रैपोषं पुष्यति; धनपोषं पुष्यति' यहां स्वशब्द के पर्यायवादची 'रै' आदि हैं । 'अश्वपोषम्; गोपोषम्'—यहाँ अश्व आदि शब्द उसके विशेषवाची हैं ।।

१७६-वा. जित्पर्यायवचनस्यैव राजाद्यर्थम् ।। १०४ ।।
महा. १ । १ । १ । ६७ ।।

जिन राजादि शब्दों के पर्यायवाचियों का ही ग्रहण इष्ट है, वहां-वहां जित्संकेत करना चाहिये ।

इस वार्तिक से 'सभा राजामनुष्यपूर्वा" [अ. २ । ४ ।। २३] ।।

इस सूत्र में 'राजन्' शब्द के पर्यायवाचियों का ही ग्रहण होता है— 'इनसभम्; ईश्वरसभम्—ये 'राजन्' शब्द के पर्यायवाची हैं । और 'राजन्' शब्द का ग्रहण नहीं होता—'राजसभा' । और राजन् शब्द के विशेषवाचियों का भी ग्रहण नहीं होता । जैसे—'चन्द्रगुप्तसभा; पुष्यमित्रसभा' इत्यादि ।

१७७-वा.-झित्तस्य च तद्विशेषाणां च मत्स्याद्यर्थम् ।। १०५ ।। महा. १ । १ । ६७ ।।

जिन मत्स्यादि शब्दों के विशेषवाचियों और उनके स्वरूप का ग्रहण इष्ट है, वहां झित्संकेत करना चाहिये ।

इस वार्तिक से "पक्षी मत्स्यमृगान्हन्ति" [स्त्रैण. ४७८] ।। इस सूत्र में 'मत्स्य' शब्द से अपने स्वरूप और उसके विशेषवाची शब्दों का ग्रहण होना इष्ट है । जैसे—मत्स्यान्हन्ति = 'मात्सिक:'—यहाँ स्वरूप का ग्रहण। और उसके विशेषवाची—शाफरिक:; शाकुलिक:; इत्यादि ।

पर्यायवाची 'अजिह्म' आदि शब्दों का ग्रहण नहीं होता, परन्तु एक पर्यायवाची का भी ग्रहण इष्ट है — मीनान्हन्ति='मैनिक:' ।। १०२—१०५ ।।

१७८-अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्यय: ।।१०६ ।।१ ।१ ।६८ ।।

अण् प्रत्याहार और उदित् ये दोनों अपने सवर्णों के ग्रहण करने वाले हों, अर्थात् इनको जो कार्यविधान किया हो, वह इनके सवर्णियों को भी हो, परन्तु प्रत्यय का अणु सवर्ण का ग्राहक न हो ।

पूर्व सूत्र से 'स्वं; रूपं' इन दो शब्दों की अनुवृत्ति आती है । 'अण्' प्रत्याहार इस सूत्र में पर णकार से लिया जाता है, और 'उदित्' करके कु, चु, टु, तु, पु ये पांच अक्षर लिखे जाते हैं ।

जैसे — "अस्य च्वौ ।। [अ. ७ । ४ । ३२] यहाँ अकार को कार्य कहा है, सो आकार को भी होता है । तथा उदित् "चुटू" ।। [अ. १ । ३ । ७] [ना. १९,] यहां चवर्ग टवर्ग का, "अट्कुप्वां." [अ. ८

। ४ । २] यहां 'कु, पु' शब्दों से कवर्ग पवर्ग का [और "तोर्लि" सन्धि. १९९ यहाँ 'तु' शब्द से तवर्ग का] ग्रहण होता है ।

इस सूत्र में 'प्रत्यय' का निषेध इसलिये है कि — 'अ; उ' इन प्रत्ययों में दीर्घ वर्णों का ग्रहण न हो ।।१०६।।

१७९-तपरस्तत्कालस्य ।। १०७ ।। १ । १ । ६९ ।।

जिससे तकार परे हो वा जो वर्ण तकार से परे आवे, वह उतने ही काल और अपने रूप का बोधक हो, अर्थात् तपर ह्रस्व वर्ण को कार्यविधान किया हो, तो दीर्घ और प्लुत को न हो ।

जैसे—'अत्' यहाँ दीर्घ आकार का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि उसके उच्चारण में द्विगुण काल लगता है । तथा जहाँ-जहाँ सूत्रों में आकार तपर पढ़ा है, उसका प्रयोजन यह है कि उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का भी ग्रहण हो, क्योंकि उदात्तादिकों में कालभेद नहीं होता ।

ह्रस्व स्वरों में पूर्व सूत्र से सामान्य करके सवर्ण ग्रहण प्राप्त था, सो इस सूत्र से ह्रस्व तपर स्वरों में अधिक कालवाले दीर्घ, प्लुत का निषेध कर दिया है । तथा पूर्वसूत्र से दीर्घ स्वरों में सवर्ण ग्रहण प्राप्त नहीं था तो इस सूत्र से तत्काल के ग्रहण में उदात्तादि विशेष गुणों का भी ग्रहण हो जाता है ।।१०७।।

१८०-येन विधिस्तदन्तस्य ।। १०८ ।। १ । १ । ७१ ।।

जिस विशेषण करके विधि हो, वह जिसके अन्त में हो उसको कार्य हो।

जैसे—"अचो यत् ।। [अ. ३ । १ । ९७] यहाँ 'अचः' यह पद धातु का विशेषण होने से अन्त शब्द का लाभ करके जो अच् को कार्यविधान है, सो अजन्त को होता है—'भव्यम्' इत्यादि ।।१०८।।

१८१-वा. समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः ।। १०९ ।।

महा. १ । १ । ७१ ।।

समासविधान और प्रत्ययविधान में तदन्तविधि न हो ।

समासविधान में—जैसे—'कष्टश्रित:'—यहाँ तो समास होता है, और 'परमकष्टं श्रित:'—यहां तदन्त का समास नहीं होता । प्रत्ययविधि—नडस्यापत्यम् 'नाडायन:'—यहाँ तो प्रत्ययविधान होता है, और —सूत्रनडस्यापत्यम् 'सौत्रनाडि:'—यहां तदन्त से फक् प्रत्यय नहीं हुआ, इत्यादि ।। १०९ ॥

१८२-वा.-उगिद्वर्णग्रहणवर्जम् ।। ११० ।।
महा. १ । १ । ७२ ।।

पूर्व वार्तिक से जो निषेध किया है, सो प्रत्ययविधि में सर्वत्र नहीं लगता अर्थात् उगित् ग्रहण और वर्ण ग्रहण को छोड़ के ।

जैसे—'भवती'—यहां उगित् 'भवत्' शब्द से ङीप् प्रत्यय होता है, तो 'अतिभवती' यहाँ तदन्त से भी हो जावे । वर्ण ग्रहण—"अत इञ्" ।। [अ. ४ । १ । ९५] 'दाक्षि:'—इत्यादि में अदन्त से भी प्रत्ययविधान होता है ।। ११० ॥

१८३-अचश्च ।। १११ ।। १ । २ । २८ ।।

जहाँ-जहाँ व्याकरणशास्त्र में ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत विधान करें, वहाँ-वहाँ अच् ही के स्थान में हों ।

जैसे—"**ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य**" ।। यहाँ प्रातिपदिक को ह्रस्व कहा है । जैसे —रै—'अतिरि'—यहाँ ऐकार को इकार और 'अधिनु'—यहाँ औकार को उकार होता है । यहाँ 'अच्' ग्रहण इसलिये है कि—'सुवाग् ब्राह्मणकुलम्' इत्यादि प्रयोगों में हलन्त को ह्रस्व न हो ।

दीर्घ—"**अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घ:**" ।। [आ. १६०] स्तु; श्रु — 'स्तूयते; श्रूयते' यहाँ उकार के स्थान में ऊकार दीर्घ हुआ है । 'अच्' का नियम इसलिये है कि—'अग्निचि३त्'—यहां तकार के स्थान में [सन्धि. २९ से] प्लुत न हो जावे ।

परन्तु यहां संज्ञा शब्दों से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत पड़े हों वहीं अच् के स्थान में हों । यह नियम इसलिये है कि "**त्यदादीनाम:**" ।। [ना. १७८] यहाँ अकारादेश कहा है, और अकार की ह्रस्व संज्ञा है, तो यहाँ अच् की अपेक्षा न हो, इत्यादि ।।१११॥

१८४-यथासंख्यमनुदेश: समानाम् ।।११२ ॥१ ।३ ।१०॥

जहां-जहां बराबर संख्यावालों का कार्य में सम्बन्ध करना हो, वहां-वहां यथासंख्य अर्थात् जैसा उनका क्रम पढ़ा हो, वैसा ही सम्बन्ध किया जावे ।

जैसे — "एचोऽयवायाव:" [सन्धि १८०] यहाँ एच् प्रत्याहार में चार वर्ण [ए, ओ, ऐ, औ] हैं, सो ही अय्, अव्, आय्, आव् ये चार आदेश हैं, सो प्रथम के स्थान में प्रथम, द्वितीय के स्थान में द्वितीय, तृतीय के स्थान में तृतीय और चतुर्थ के स्थान में चतुर्थ होते हैं । इसी प्रकार सर्वत्र यह नियम जान लेना ।

यहाँ 'समानाम्' ग्रहण इसलिये है कि — "लक्षणेत्थंम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्य्यनव:" ।। [अ. १ । ४ । ८९] यहाँ चार अर्थ और तीन उपसर्ग हैं, इससे यथासंख्य क्रम नहीं लगता, इत्यादि ।।११२॥

१८५-स्वरितेनाऽधिकार: ।।११३ ।।१ ।३ ।११।।

उस स्वरित के चिह्न से अधिकार का बोध करना चाहिये ।

जो अक्षर के ऊपर खड़ी रेखा लगाते हैं, वह 'स्वरित' वर्ण का धर्म होता है । जैसे—प्रत्यय: [अ. ३ । १ । १]; धातो: [आख्या. २]; । कर्मण्यण् [आख्या. १९८], इत्यादि ।

अब जिसके ऊपर स्वरित का चिह्न किया हो, वह अधिकार कहां तक जावेगा, यह बात उस उस के विशेष व्याख्यान से जानना ।। ११३ ॥

१८६-विप्रतिषेधे परं कार्य्यम् ।।११४ ।।१ ।४ ।२ ॥

विप्रतिषेध में पर को कार्य होना चाहिये ।

'इतरेतरप्रतिषेधो विप्रतिषेधः' — जो परस्पर एक दूसरे का रोकना है, वह 'विप्रतिषेध' कहाता है । **'द्वौ प्रसङ्गौ यदान्यार्थौ भवत एकस्मिंश्च युगपत् प्राप्नुतः स विप्रतिषेधः'**— जो पृथक्-पृथक् प्रयोजन वाले दो कार्य एक विषय में एक काल में प्राप्त होते हैं, उसको 'विप्रतिषेध' कहते हैं ।

जैसे—'वृक्षाभ्याम्'—यहां "सुपि च" ।। [ना. २६] इससे दीर्घ होता है, और—'वृक्षेषु' यहां "बहुवचने झल्येत्" ।। [ना. ३०] इससे एकारादेश होता है । ये तो इनके पृथक्-पृथक् प्रयोजन हैं । परन्तु—'वृक्षेभ्यः' यहाँ जो दो सूत्रों की प्राप्ति एक काल में होकर 'वृक्ष' शब्द को दीर्घ और एकारादेश दोनों ही प्राप्त होते हैं, इसका न्याय इस परिभाषा सूत्र से किया है कि पर का कार्य एकारादेश हो जावे, और पूर्वसूत्र का कार्य दीर्घादेश न हो इत्यादि असंख्य प्रयोजन हैं ।। ११४ ॥

१८७-अन्तादिवच्च ।। ११५ ।। ६ । १ । ८२ ॥

जो पूर्व पर के स्थान में एकादेश विधान किया है, सो पूर्व का अन्त अवयव और पर का आदि अवयव समझना चाहिये ।

'पूर्व, पर और एक' शब्द की अनुवृत्ति इसके पूर्व सूत्र [एकः पूर्वपरयोः । अ. ६ । १ । ८१; सन्धि. १२९] से आती है । इसके प्रयोजन—जैसे पूर्व का अन्तवत्—'ब्रह्मबन्धूः' यहाँ उकारान्त शब्द से ऊङ् प्रत्यय होता है। उकारान्त तो प्रातिपदिक [है] और अप्रातिपदिक प्रत्यय का ऊकार है, इन दोनों उकारों का एकादेश प्रातिपदिक के ग्रहण करके गृहीत होने से स्वादि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं हो सकती, इत्यादि ।

पर का आदिवत्—'अग्नी इति; वायू इति'—यहाँ इकार, उकार और औकार का एकादेश हुआ है, सो द्विवचन औकार की आदिवत् होने से ही प्रगृह्य संज्ञा [सन्धि. ६४ से] हो सकती है, अन्यथा नहीं हो सकती थी, इत्यादि ।। ११५ ॥

१८८-षत्वतुकोरसिद्धः ।। ११६ ।। ६ । १ । ८३ ।।

जो षत्व और तुक्विधि के करने में पूर्व पर के स्थान में एकादेश है, वह सिद्ध कार्य करने में असिद्ध हो जाता है ।

जैसे—षत्व—'कोऽसिचत्' यहाँ अकार को पूर्वरूप एकादेश [सन्धि. १६० से] हुआ है, उसको षत्वविधि करने में असिद्ध मान के षत्व नहीं होता, इत्यादि ।

तुक्विधि—'अधीत्य; परीत्य'—यहां सवर्णदीर्घ एकादेश [सन्धि. १३०] को असिद्ध मानकर ह्रस्व से परे तुक् [सन्धि. २०६] का आगम होता है, इत्यादि ।। ११६ ॥

१८९-वा. सम्प्रसारणङीट्सु सिद्धः ।। ११७ ॥
महा. ६ । १ । ८३ ।।

परन्तु जहाँ सम्प्रसारण, ङि विभक्ति और इट् प्रत्यय के साथ एकादेश हुआ हो, तो वहां षत्व और तुक्विधि करने में एकादेश सिद्ध ही माना जावे ।

क्योंकि सूत्र से निषेध प्राप्त था, उसी प्रतिषेध का यह प्रतिषेध है। जैसे—सम्प्रसारण—'शकहूषु' यहाँ शकपूर्वक 'ह्वेञ्, धातु से क्विप् के संप्रसारण को पूर्वरूप एकादेश [सन्धि १५९ से] हुआ है । उसको असिद्ध मानने से सप्तमी विभक्ति के सकार को षत्व नहीं पाता था, सो हो गया ।

ङि—'वृक्षे छत्रम्; वृक्षेच्छत्रम्' यहां वृक्ष शब्द का ङि विभक्ति के इकार के साथ [सन्धि १३३ से] एकादेश हुआ है । जो उसके असिद्ध मानें तो पूर्ववत् सन्धि. २०९ से] नित्य तुक् पाता है । "पदान्ताद्वा ।" [सन्धि. २११] से विकल्प इष्ट है, सो हो गया इत्यादि ।। ११७ ॥

१९०-पूर्वत्राऽसिद्धम् ।। ११८ ।। ८ । २ । १ ।।

जो कार्य यहाँ से पूर्व सपादसप्ताऽध्यायी अर्थात् एक पाद और सात अध्याय में जितना शब्दकार्य कहा है, वहां सर्वत्र त्रिपादी का किया कार्य असिद्ध माना जावे और त्रिपादी में भी पूर्व के प्रति पर-पर सूत्र का कार्य असिद्ध माना जाये ।

जैसे—'पादा उच्येते'—यहाँ "लोपः शाकल्यस्य" ।। [अष्टा. ८.३.१९ सन्धि. २५१] इस सूत्र से अवर्णपूर्व वकार का लोप हुआ है, उसको असिद्ध मानकर गुण एकादेशरूप सन्धि नहीं होती । 'अग्न आयाहि'—यहाँ भी अवर्ण से पूर्व यकार का लोप होने से उसको असिद्ध मानकर सवर्ण दीर्घ नहीं होता, इत्यादि ।

त्रिपादी में—'गोधुङ् मान्'—यहां 'दुह' धातु के हकार को घकार, घकार को [सन्धि. १९० से] गकार और गकार को [सन्धि. २२० से] ङकार और दकार को [आख्या. २०४ से] धकार होता है । इस सब को असिद्ध मान कर मतुप् के मकार को [स्त्री. ६७४ से प्राप्त] वकारादेश नहीं होता, इत्यादि ।। ११८ ॥

१९१-नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति ।। ११९ ।। ८ । २ । २ ।।

परन्तु प्रातिपदिकान्त नकार का जो लोप होता है, वह सुप्, स्वर संज्ञा और कृतसम्बन्धी तुक्विधि इन्हीं विधियों के करने में असिद्ध माना जावे ।

सुप्विधि में दो प्रकार का समास होता है — सुप् के स्थान में जो विधि; और सुप् के परे जो विधि ।।

जैसे—सुप् के स्थान में जो विधि—'राजभिः; तक्षभिः; यहाँ राजन्, तक्षन् शब्द के नकार का [नलोप. प्रातिपदिकान्तस्य ।। ना. ६६ से] लोप हुआ है । उसको असिद्ध न मानें तो भिस् विभक्ति को ऐस् आदेश हो ही जावे, सो इष्ट नहीं है । तथा -

सुप् के परे जो विधि—'राजभ्याम्; तक्षभ्याम्' यहाँ नलोप को असिद्ध

मानने से विभक्ति के परे [सुपि च ।। ना. २६ से प्राप्त] दीर्घ नहीं होता।

स्वरविधि - 'पञ्चार्मम्'—यहाँ पञ्चन् और सप्तन् शब्द के नकार का लोप हुआ है । उसको असिद्ध मानकर "अर्मे चाऽवर्णं द्व्यच् त्र्यच्" ।। [अ. ६ । २ । ९०] इस स्वरविधायक सूत्र से अवर्णान्त पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर प्राप्त है, सो नहीं होता, क्योंकि नलोप के असिद्ध मानने से अवर्णान्त ही नहीं ।

संज्ञाविधि—'पञ्चभिः; 'सप्तभिः'—यहाँ पञ्चन् और सप्तन् शब्द के नकार का लोप हुआ है, उसको असिद्ध मानकर [ष्णान्ता षट्] षट्संज्ञा होती और तदाश्रय षट्संज्ञा के कार्य भी होते हैं ।

तुग्विधि—'ब्रह्महभ्याम्; ब्रह्महभिः'—यहां नलोप को असिद्ध मानकर जो कृत् के आश्रय से [सन्धि. २०६ से] तुक् प्राप्त है, सो नहीं होता ।

यहां 'कृद्' ग्रहण इसलिये है कि—'ब्रह्महच्छत्रम्' यहाँ जो छकाराश्रय तुगागम है, सो हो जावे, इत्यादि ।

(प्रश्न) 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' इस उक्त सूत्र से ही त्रिपादी के सब कार्य असिद्ध हो जाते, फिर यह सूत्र किसलिये किया ?

(उत्तर) यह सूत्र नियमार्थ है कि इतने ही विधियों के करने में नकार का लोप असिद्ध माना जावे अन्यत्र नहीं । इससे— 'राजीयति' यहां ईकारादेश अवर्णान्त मानकर हो जाता है, इत्यादि ।।११९।।

१९२-न मु ने ।। १२०।। ८ । २ । ३ ।।

नाभाव करने में मुभाव असिद्ध नहीं होता, अर्थात् सिद्ध ही माना जाता है । जैसे — 'अमुना' यहाँ 'अदस्' शब्द के दकार को मकर और अकार को उकारादेश [अदसोऽसेर्दादु दो मः ।। ना. १८८ से] त्रिपादी में होता है। उसको असिद्ध नहीं मानने से घिसंज्ञक से परे टा विभक्ति को [आङो नाऽस्त्रियाम् ना. ५८ से] ना आदेश हो जाता है । नाभाव कर लेने के पीछे जो मुभाव

को असिद्ध मानें, तो अदन्त अङ्ग को [सुपि च ।। ना. २६ से] दीर्घ प्राप्त होता है, इसलिये ऐसा अर्थ करना कि — 'नाभाव के करने में और करने के पश्चात् भी मुभाव सिद्ध ही माना जावे' इत्यादि ।। १२०॥

१९३-वा.-संयोगान्तलोपो रोरुत्वे ।।१२१॥

महा. ८ । २ । ६ ॥

यहां रु को उकारादेश करने में संयोगान्तलोप सिद्ध माना जाता है।

जैसे **'हरिवो मेदिनं त्वा'**—यहां जो 'हरिवत्' शब्द में संयोगान्त तकार का लोप असिद्ध माना जावे, तो हश् के न होने से उत्व प्राप्त नहीं होता, इत्यादि ।।१२१॥

१९४-वा.-सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वक्तव्यः ।। १२२॥

महा. ८ । २ । ६ ।।

सवर्णदीर्घ एकादेश के करने में त्रिपादी में विहित सिच् प्रत्यय का लोप सिद्ध ही समझना चाहिये ।

जैसे—'अलावीत्; अपावीत्'—यहां इट् से परे सिच् के सकार का लोप इट् के परे हुआ है [आख्या. १३२ से] । पश्चात् उस सकार के लोप को असिद्ध मानें, तो सवर्णदीर्घ एकादेश नहीं पावे, इत्यादि ।।१२२॥

१९५-वा.-संयोगादिलोपः संयोगान्तलोपे ।। १२३॥

महा. ८ । २ । ६ ।।

जो त्रिपादी में संयोगादि सकार ककार का लोप [आख्या. २१० से] होता है, वह संयोगान्त लोप करने के सिद्ध माना जावे ।

जैसे—'काष्टतट्' टकार का लोप नहीं होता, इत्यादि ।। १२३॥

१९६-वा.-निष्ठादेशः षत्वस्वरप्रत्ययेड्विधिषु सिद्धो वक्तव्यः ।। १२४॥ महा. ८ । २ । ६ ।।

जो निष्ठासंज्ञक प्रत्ययों के स्थान में आदेश होते हैं; वे षत्व, स्वर, प्रत्यय और इट्विधि के करने में सिद्ध मानने चाहियें ।

जैसे—षत्वविधि—'वृक्णः; वृक्णवान्' यहां ओदित् धातु से परे निष्ठा के तकार को नकारादेश हुआ है, उसको सिद्ध मानने से 'व्रश्चभ्रस्ज.'' इस सूत्र से षत्व नहीं होता, इत्यादि ।

स्वरविधि—'क्षीबः'—यहां 'क्षीब' धातु* से निष्ठा के परे इत्मात्र का लोप माना है । 'क्षीब+इट्+क्त' इस अवस्था में निपातन से इट् का इ और क्त का त् इस प्रकार 'इत् का लोप होकर क्त के अ में ब मिल के 'क्षीबः' बनता है । उसको सिद्ध मानके ''निष्ठा च द्व्यजनात्'' [६।१।१९९] इससे आद्युदात्त स्वर हो जाता है ।

प्रत्ययविधि—'क्षीबेन तरति'=क्षीबकः—यहाँ भी उस लोप के सिद्ध मानने से ही द्व्यच् लक्षण ठन् प्रत्यय होता है ।

इट्विधि—'क्षीबः'—इसको जब तकार के लोप का निपातन मानते हैं, तब उसको सिद्ध मानकर इट् नहीं होता ।।१२४॥

१९७-वा.-प्लुतिस्नुग्विधौ छे च ।। १२५॥ महा. ८ । २ । ६ ।।

जो त्रिपादी में विधान किया हुआ प्लुत विकार है, वह छकार के परे तुक् विधि करने में सिद्ध ही समझना चाहिये ।

जैसे—'अग्ना३इ च्छत्रम्'; पटा३उ च्छत्रम्—यहाँ प्लुत को सिद्ध मानकर तुक् का आगम हो जाता है ।। १२५ ॥

१९८-वा.-श्चुत्वं धुड्विधौ ।।१२६।।महा. ८।२।६।।

जो शकार चवर्ग के योग में सकार तवर्ग को शकार चवर्ग होते हैं, उनको धुड्विधि में सिद्ध मानना चाहिये ।

---

* ८ । २ । ५५ सूत्र में 'क्षीब' के स्थान क्षीव पाठ है ।।]

जैसे—'अट् + श्च्योतति'—यहां शकार को सिद्ध मानने से "डः सि धुट्" इस सूत्र से धुट् का आगम नहीं होता ।। १२६ ॥

१९९-वा.-अभ्यासजश्त्वचर्त्वमेत्त्वतुकोः ।। १२७ ॥

महा. ८ । २ । ६ ।।

जो अभ्यास में झलों को जश्त्व और चर्त्व त्रिपादी में कहा है, उसको एत्व और तुक् के करने में सिद्ध मानना चाहिये ।

जैसे—'बभणुतः; बभणुः'—यहां अभ्यास के भकार को बकारादेश हुआ है । उसको सिद्ध मानने से आदेशादि धातु को एत्व नहीं होता । चर्त्व—'उचिच्छिषति'—यह 'उच्छीविवासे' धातु का प्रयोग है, उसके अभ्यास में चकारादेश होता है । उसको असिद्ध मानने से तुक् पाता है, सो सिद्ध मानकर न होवे ।। १२८॥

२००-वा.-द्विर्वचने परसवर्णत्वम् ।। १२८॥

महा. ८ । २ ।। ६ ॥

जहां-जहां "अनचि च' करके द्विर्वचन करते हैं, वहां-वहां परसवर्ण सिद्ध ही मानना चाहिये ।

जैसे—सय्यँयँन्ता, सँव्वँत्सरः, यँल्लँलोकम्, तलँलँलोकम् इत्यादि में अनुस्वार को परसवर्ण आदेश होता है । उसको सिद्ध मानने से द्विर्वचन होता है, इत्यादि ।। १२८ ॥

इति परिभाषाप्रकरणं समाप्तम् ।।

* * *

अथ साधनप्रकरणम्

[अथ स्वरसन्धिः]

२०१-एकः पूर्वपरयोः ।। १२९ ।। ६ । १ । ८१ ।।

यह अधिकार सूत्र है ।

यहां से आगे जो-जो कहेंगे, वह सब पूर्व पर के स्थान में एकादेश समझना योग्य है ।। १२९ ।।

२०२-अकः सवर्णे दीर्घः ।। १३० ।। ६ । १ । ९७ ।।

अक् प्रत्याहार से सवर्ण अच् परे हो, तो पर के स्थान में सवर्ण दीर्घ एकादेश हो ।

'अक्' प्रत्याहार में पांच वर्ण लिये जाते हैं - 'अ इ उ ऋ ऌ' । इनकी परस्पर सन्धि दिखलाते हैं । अवर्ण में परस्पर चार प्रकार के सन्धि होते हैं— 'अ + अ; अ + आ; आ + अ; आ + आ' इन दो-दो को मिलके सवर्ण दीर्घ आकार हो जाता है । जैसे—परम + अर्थः = परमार्थः । वेद + आदिः = वेदादिः । विद्या + अर्थी = विद्यार्थी । विद्या + आनन्दः = विद्यानन्दः। अन्य शब्दों में भी अवर्ण सन्धि इसी प्रकार के आवेंगे ।

इवर्ण में भी चार भेद हैं—'इ+इ; इ+ई; ई+इ; ई+ई' । जैसे—प्रति+इतिः = प्रतीतिः । भूमि + ईशः = भूमीशः । मही + इनः = महीन्। कुमारी + ईहते = कुमारीहते ।

ऐसे उवर्ण का भी चार प्रकार का विषय है । जैसे—'उ + उ; उ + ऊ; ऊ + उ; ऊ + ऊ' । क्रम से उदाहरण—विधु + उदयः = विधूदयः । मधु + ऊर्णा = मधूर्णा । चमू + उद्गमः = चमूद्गमः । वधू + ऊतिः = वधूतिः ।

ऋवर्ण के विषय में भी ऐसा ही समझना । परन्तु लिखते भी हैं, पितृ + ऋणम् = पितॄणम्, इत्यादि ।

परन्तु ''ऋ, ऌ' दो वर्णों में इतना विशेष है -

२०३-वा.-ऋति ऋ वा वचनम् ।। १३१ ॥

महा. ३ । १ । ९७ ॥

ह्रस्व ऋकार से सवर्ण ऋकार के परे पूर्व पर के स्थान में विकल्प करके ह्रस्व ऋकार एकादेश होता, और दूसरे पक्ष में दीर्घ एकादेश होता है।

सूत्र से सवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त है, इसलिये यह वार्तिक पढ़ा है। जैसे—'होतृ + ऋकार:' = होतृकार: । द्वितीय पक्ष में—'होतृ + ऋकार:, = होतॄकार: ।।

२०४-वा.-ऌति ऌ वा वचनम् ।। १३२ ॥

महा. ६ । १ । ९७ ।।

ऋकार ऌकार के स्थान प्रयत्न एक नहीं है, इसलिये सवर्णसंज्ञा विषय में वार्तिक [सन्धि. २३] लिख चुके हैं और अक् प्रत्याहार में भी ऋ ऌ दोनों पढ़े हैं ।

ऋकार से ह्रस्व ऌकार के परे पूर्व पर स्थान में विकल्प करके ह्रस्व ऌकार एकादेश हो ।

जैसे—'होतृ + ऌकार:' = होत्ऌकार: । और जिस पक्ष में ऋकार ऌकार को मिलके ऌकार एकादेश नहीं होता, वहां ऌकार के दीर्घ नहीं होने से दीर्घ ऋकार एकादेश ही हो जाता है । जैसे—'होतॄकार:' । इन दोनों की परस्पर सवर्ण संज्ञा का फल भी यही है कि दोनों को मिलके एकादेश हो जावे ।। १३०—१३२ ॥

२०५-आद्गुण: ।। १३३ ।। ६ । १ । ८४ ।।

अवर्ण से असवर्ण अच् परे हो, तो पूर्व पर के स्थान में गुण एकादेश होता है ।

जैसे — 'अ + इ । अ + ई । अ + उ । अ + ऊ । अ + ऋ । आ + इ । आ + उ । आ + ऊ । आ + ऊ' । यह दश प्रकार का गुण एकादेश होता है । क्रम से उदाहरण –

प्र+इदम् = प्रदेम् । परम + ईशः = परमेशः । सूर्य + उदयः = सूर्योदयः । शब्द + ऊहा = शब्दोहा । ब्रह्म + ऋषि = ब्रह्मर्षिः, यहाँ अकार ऋकार के स्थान में "ऊरण् रपरः" सूत्र से रपर अर्थात् 'अर्' आदेश हो गया है । कन्या + इयम् = कन्येयम् । महा + ईश्वरः = महेश्वरः । कृपा+ उद्घाटनम् = कृपोद्घाटनम् । रक्षा + ऊहः = रक्षोहः । महा + ऋषिः = महर्षिः । इसी प्रकार अन्य शब्दों में भी उदाहरण आवेंगे ।।१३३।।

२०६-वृद्धिरेचि ।। १३४ ।। ६ । १ । ८५ ।।

अवर्ण से एच् प्रत्याहार परे हो, तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश हो जाय ।

यह सूत्र गुणादेश का अपवाद है । एच् प्रत्याहार में चार वर्ण आते हैं—'ए ऐ ओ औ' इन चार वर्णों के परे वृद्धि होती है । 'अ+ए। अ + ऐ । अ+ओ । अ+औ । आ+ए । आ+ऐ ।। आ+ओ' । इसी रीति से आठ प्रकार की वृद्धि होती है । जैसे —

ब्रह्म + एकम् = ब्रह्मैकम् । परम + ऐश्वर्य्यम् = परमैश्वर्य्यम् । गुड + ओदनः = गुडौदनः ।। परम् + औषधम् = परमौषधम् । क्षमा + एका = क्षमैका । विद्या + ऐहिकी = विद्यैहिकी । महा + ओजस्वी = महौजस्वी । खट्वा + औपगवः = खट्वौपगवः ।। १३४ ।।

अब इन गुण वृद्धि के विशेष अपवादरूप सूत्र लिखते हैं —

२०७-एत्येधत्यूठ्सु ।। १३५ ।। ६ । १ । ८६ ।।

अवर्ण से एति, एधति और ऊठ् परे हों, तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश हो ।

यहां 'एति' और 'एधति' इन दो धातुओं के परे "एङि पररूपम्" [सन्धि. १४५] से पररूप एकादेश पाता था, इसलिये वृद्धि का आरम्भ किया है । और ऊठ् आदेश में [सन्धि. १३३ से] गुण पाता था, उसका अपवाद है ।

उप + एति = उपैति । उप + एमि = उपैमि । प्र + एधते = प्रैधते । उप + एधते = उपैधते । ऊठ्—प्रष्ठ + ऊहः = प्रष्ठौहः । प्रष्ठ + ऊहे = प्रष्ठौहे ।। १३५ ॥

२०८-वा.-अक्षादूहिन्याम् ।। १३६ ॥ महा. ६ । १ । ८६ ।।

अक्ष शब्द के आगे ऊहिनी शब्द हो, तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है ।

जैसे—अक्ष + ऊहिनी = अक्षौहिणी, यहाँ [सन्धि. १३३ सूत्र से प्राप्त] गुण एकादेश की बाधक वृद्धि है ।। १३६ ॥

२०९-वा.-प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु ।। १३७ ॥ महा. ६ । १ । ८६ ॥

प्र उपसर्ग के आगे ऊह, उढ, ऊढि, एष और एष्य शब्द हों, तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है ।

जैसे—प्र + ऊहः = प्रौहः । प्र + ऊढः = प्रौढः । प्र + ऊढिः = प्रौढिः । 'प्र + एषः' = प्रैषः; प्र + एष्यः' = प्रैष्यः, इन दो शब्दों में पूर्व पर के स्थान में पर रूप [सन्धि. १४५] को बाध के वृद्धि होती है ।। १३७ ॥

२१०-वा.-स्वादिरेरिणोः* ।। १३८ ॥ महा. ६ । १ । ८६ ॥

स्व शब्द के आगे इर और इरिन् शब्द हों, तो पूर्व पर के स्थान

* [वा. — स्वादीरेरिणोः ।। महाभाष्य में ऐसा पाठ है ।।]

में वृद्धि एकादेश होता है ।

जैसे—स्व + इरम् = स्वैरम् । स्व + इरी = स्वैरी । यहां [सन्धि. १३३ से] गुण पाता था, सो न हुआ ।। १३८ ।।

२११-वा.-ऋते च तृतीयासमासे ।। १३९ ॥

महा. ६ । १ । ८६ ।।

अवर्णान्त पूर्वपद के आगे तृतीयासमास में ऋत शब्द हो, तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है ।

जैसे— सुखेन + ऋतः = सुखार्तः । दुःखेन + ऋतः = दुःखार्तः ।

यह 'ऋत' इसलिये है कि—सुख - इतः = सुखेतः, ऐसे वाक्यों में वृद्धि न हो । 'तृतीया' ग्रहण इसलिये है कि—परम + ऋतः = परमर्तः, यहां भी वृद्धि एकादेश न हो । और 'समास' ग्रहण इसलिये है कि — सुखेन + ऋतः सुखेनर्तः, यहां भी वृद्धि एकादेश न हुआ । यहां गुण और प्रकृतिभाव भी पाया था ।। १३९ ॥

२१२-वा.-प्रवत्सतरकम्बलवसनानां च ऋणे ।। १४० ॥

महा. ६ । १ । ८६ ।।

प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन इन शब्दों के आगे ऋण शब्दों हो, तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है ।

जैसे — प्र + ऋणाम्—प्रार्णम् । वत्सतर + ऋणम् = वत्सतरार्णम् । कम्बल + ऋणम् = कम्बलार्णम् । वसन + ऋणम् = वसनार्णम् । यहां सर्वत्र [सन्धि. १३३ से] गुण और [सन्धि. १७६ से] प्रकृतिभाव पाया था ।।१४० ॥

२१३-वा.-ऋणदशाभ्यां च ।। १४१ ॥

महा. ६ । १ । ८६ ।।

ऋण और दश शब्द के आगे ऋण शब्द हो, तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है ।

जैसे—ऋण + ऋणम् = ऋणार्णम् । दश + ऋणम् = दशार्णम् । यहाँ भी गुण और प्रकृतिभाव दोनों पाये थे ॥ १४१ ॥

२१४-आटश्च ॥ १४२ ॥ ६ ॥ १ । ८७ ॥

जो धातुओं के पूर्व आट् का आगम होता है उससे परे अजादि धातु हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है । जैसे — आ + ईक्षत = ऐक्षत । आ + ईक्षिष्ट = ऐक्षिष्ट । आ + ईहिष्ट = ऐहिष्ट । आ + उनत = औनत । यहाँ आद्गुणः [सन्धि. १३३] इस सूत्र से गुण पाया था सो न हुआ ॥ १४२ ॥

२१५-उपसर्गादृति धातौ ॥ १४३ ॥ ६ । १ । ८८ ॥

अवर्णान्त उपसर्ग से परे ऋकारादि धातु हो, तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश हो जाय ।

यह सूत्र भी गुण एकादेश का बाधक है । प्र + ऋच्छति = प्रार्च्छति उप + ऋच्छति = उपार्च्छति । प्र + ऋघ्नोति = प्रार्घ्नोति ।

यहाँ 'उपसर्ग' ग्रहण इसलिये है कि—खट्वा + ऋच्छति = खट्वर्च्छति, यहाँ वृद्धि न हुई ॥ १४३ ॥

२१६-वा सुप्यापिशलेः ॥ १४४ ॥ ६ । १ । ८९ ॥

अवर्णान्त उपसर्ग से परे ऋकारादि सुबन्त धातु हो, तो पूर्व पर के स्थान में विकल्प करके वृद्धि एकादेश होता है, पक्ष में गुण हो जाय, परन्तु यह बात आपिशलि आचार्य के मत में है अन्य के नहीं ।

यहाँ पूर्वसूत्र की अनुवृत्ति आती है । उप + ऋणीयति = उपार्णीयति, उपर्णीयति । विकल्प के लिये 'वा' शब्द तो पढ़ा ही है । फिर जो यहाँ 'आपिशलि' का ग्रहण है, सो सत्कारार्थ है ॥ १४४ ॥

२१७-एङि पररूपम् ।। १४५ ॥ ६ । १ । ९१ ।।

अवर्णान्त उपसर्ग से परे एङादि धातु हो, तो पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है ।

यह सूत्र वृद्धि का अपवाद है । प्र + एलति= प्रेलति । उप + एलति = उपेलति । प्र + ओषति = प्रोषति । उप + ओषति = उपेषति ।। १४५।।

२१८-वा.-एवे चानियोगे ।। १४६ ॥ महा. ६ । १ । ९१ ॥

अनियोग अर्थात् अनियत अर्थ में अवर्णान्त से परे एव शब्द हो, तो पूर्व पर स्थान में पररूप एकादेश हो जाय ।

इह + एव = इहेव । अद्य + एव = अद्येव ।

यहाँ 'अनियोग' ग्रहण इसलिये है कि—**इहैव भव मा स्म गाः**, यहां नियोग के होने के कारण पररूप न हुआ ।। १४६ ॥

२१९-वा.-शकन्ध्वादिषु च ।। १४७ ।।
महा. ६ । १ । ९१ ।।

शकन्धु आदि शब्दों में पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है। जैसे—शक + अन्धुः = शकन्धुः । कुल + अटा = कुलटा, इत्यादि ।। १४७॥

'सीमन्त' शब्द भी शकन्ध्वादि शब्दों के सदृश है, परन्तु इसमें भेद यह है कि -

२२०-वा.-सीमन्तः केशेषु ।।१४८।। महा. ६ । १ । ९१ ॥

केश अर्थ वाच्य हो, तो सीम शब्द से अन्त शब्द के परे पूर्व पर स्थान में पररूप एकादेश हो जाय ।

जैसे — 'सीम + अन्तः' = सीमन्तः ।

यहां 'केश' ग्रहण इसलिये है कि अन्यत्र पररूप एकादेश न हो । अर्थात जैसे—सीमान्तः, यहाँ पररूप एकादेश न हुआ, किन्तु सवर्णदीर्घ एकादेश

[सन्धि. १३० से] हो गया ।। १४८ ॥

२२१-वा.-ओत्वोष्ठयोः समासे वा ।। १४९ ॥

महा. ६ । १ । ९१ ।।

जो अवर्णान्त के आगे ओतु, ओष्ठ शब्दों का समास किया हो, तो विकल्प करके पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है । पक्ष में वृद्धि हो जाती है, क्योंकि इस वार्त्तिक से वृद्धि की प्राप्ति में पररूप एकादेश किया है । जैसे — स्थूल + ओतुः = स्थूलोतुः; स्थूलौतुः । बिम्ब + ओष्ठी= बिम्बोष्ठी, बिम्बौष्ठी ।

यहां 'समास' ग्रहण इसलिये है कि—**एहि बालौतुरायाति,** यहां समास के न होने से पररूप नहीं हुआ ।। १४९॥

२२२-वा.-एमन्नादिषु च्छन्दसि ।। १५० ॥

महा. ६ । १ । ९१ ।।

वेदस्थ प्रयोगों में अवर्ण से परे एमन् आदि शब्द हों, तो पररूप एकादेश हो

जैसे—अपां त्वा + एमन् = अपां त्वेमन् । अपां त्वा — ओद्मन्= अपां त्वोद्मन्, इत्यादि । यहाँ वृद्धि पाई थी, सो न हुई ।। १५० ।।

२२३-ओमाङोश्च ।। १५१ ।। ६ । १ । ९२ ।।

जो अवर्णान्त शब्द से परे ओम् और आङ् शब्द हों, तो पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है ।

जैसे—कन्या + ओमित्युवाच = कन्योमित्युवाच ।

यह नियम केवल आङ् विषयक ही नहीं है, किन्तु — 'आ + उनत्ति' = ओनत्ति । 'अद्य + ओनत्ति' अद्योनत्ति । 'कदा + ओनत्ति' = कदोनत्ति, जैसे यहां आकार का उकार के साथ पररूप एकादेश होता है, वैसे उसको पर का आदिवत् मान के पुनः पररूप एकादेश होता है । यहाँ भी वृद्धि प्राप्त थी, सो न हुई ।। १५१॥

२२४-उस्यपदान्तात् ।। १५२ ।। ६ । १ । ६३ ।।

जो अपदान्त अवर्ण से परे उस् प्रत्यय हो तो पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है । यह भी गुण का अपवाद है । हन्या + उस् = हन्युः । भिन्द्या + उस् = भिन्द्युः, इत्यादि ।

यहां 'अपदान्त' ग्रहण इसलिये है कि 'का+उस्रा = कोस्रा, तत्र+उषित्वा = तत्रोषित्वा' यहां पदान्त में पररूप एकादेश न हुआ ।। १५२ ।।

२२५-अतो गुणे ।। १५३ ।। ६ । १ । ९४ ।।

जो अपदान्त अकार से परे गुणवाची अ, ए, ओ, हों तो पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है ।

जैसे-पच+अन्ति=पचन्ति । पच+ए=पचे, इत्यादि ।। १५३ ।।

२२६-अव्यक्ताऽनुकरणस्यात इतौ ।। १५४ ।। ६ । १ । ९५ ।।

जो इति शब्द पर हो, तो अव्यक्त शब्द का जो अनुकरण उसके अत् भाग को पररूप एकादेश हो जावे ।

जिसमें अकारादि वर्ण स्पष्ट न निकलें, उसको 'अव्यक्त' शब्द कहते हैं । 'अनुकरण' वह कहाता है कि किसी मनुष्य ने जैसा शब्द किया हो उसका प्रतिशब्द—नकल—करनी ।

जैसे—पटत्+इति=पटिति । घटत्+इति=घटिति, इत्यादि ।

यहाँ 'अव्यक्त का अनुकरण' इसलिये कहा है कि — 'जगत् + इति'= जगदिति, ऐसे वाक्यों में पररूप एकादेश न हुआ ।। १५४ ।।

२२७-वा. इतावनेकाज्ग्रहणं श्रदर्थम् ।। १५५ ।। महा. ६ । १ । ९५ ।।

जहां इति शब्द के परे अव्यक्त शब्द के अनुकरण को पररूप एकादेश किया है, वहां अनेकाच् अव्यक्त शब्द को हो । अर्थात् — 'श्रत् + इति'- श्रदिति, यहां एकाच् शब्द के 'अत्' भाग को पररूप न हुआ ।। १५५ ॥

२२८-तस्य परमाम्रेडितम् ।। १५६ ।। ८ । १ । २ ।।

जो द्विर्वचन का पर भाग है, उसकी आम्रेडित संज्ञा होती है ।

जैसे—ऋक् ऋक्, यहां जो परे ऋक् शब्द है, उसको आम्रेडित कहते हैं । इसी प्रकार सर्वत्र समझना ।। १५६ ॥

२२९-नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा ।। १५७ ।। ६ । १ । ९६ ॥

जो आम्रेडितसंज्ञक अव्यक्त शब्द के अनुकरण का अत् भाग हो, उसको इति शब्द के परे पररूप एकादेश न हो, किन्तु जो आम्रेडितसंज्ञक के अन्त में तकार है, उसको विकल्प करके पररूप एकादेश होवे ।

'पटत् पटत्' यहां परभाग आम्रेडित कहाता है । 'पटत् पटत्' + इति'- पटत् पटेति । और जिस पक्ष में पररूप न हुआ, वहां—पटत्-पटदिति ।।१५७॥

२३०-वा.-नित्यमाम्रेडिते डाचि पररूपं कर्त्तव्यम् ।। १५८ ।। महा. ६ । १ । ९६ ।।

इस वार्त्तिक का प्रयोजन यह है कि जो अनुकरण में डाच् प्रत्ययान्त आम्रेडित परे हो, तो पूर्व के अन्त्य के तकार को नित्य पररूप एकादेश हो जाय ।

जैसे—पटत्+पटा, यहां तकार को पर अर्थात् पकार का रूप हो जाता है । पटपटा करोति; पटपटायते । घटघटा करोति; घटघटायते । शरशरा करोति; शरशरायते ।

काशिकावाले जयादित्य आदि लोगों ने इस वार्त्तिक का सूत्रपाठ में व्याख्यान किया है, सो सत्य नहीं । महाभाष्य के देखने से स्पष्ट विदित होता है कि यह सूत्र नहीं है, किन्तु लेखक-भ्रम से सूत्रों में लिखा गया

है ॥ १५८॥

२३१-सम्प्रसारणाच्च ॥ १५९ ॥ ६ । १ । १०४ ॥

यण् अर्थात् य, व, र, ल इन चार वर्णों के स्थान में इक् अर्थात् इ, उ, ऋ, लृ ये चार आदेश होते हैं, इनको संप्रसारण कहते हैं। जो संप्रसारण से परे अच् हो तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश हो जाता है। जैसे यज् + क्त + सु = इ + अज् + क्त + सु = इष्टम्। यज् + क्तिन् + सु = इ + अज् + क्तिन् + सु = इष्टिः ॥ वप + क्त + सु = उ + अप् + क्त + सु + उप्तम्। ग्रह + क्त + सु = गृ + अह + क्त + सु = गृहीतम्। ग्रह + क्तिन् + सु = गृ + अह + क्तिन् + सु = गृहीतिः; इत्यादि ॥१५९॥

२३२-एङः पदान्तादति ॥ १६० ॥ ६ । १ । १०५ ॥

जो पदान्त एङ् से परे ह्रस्व अकार हो, तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है।

जैसे – अग्ने + अत्र = अग्नेऽत्र। वायो + अत्र = वायोऽत्र। ब्राह्मणो + अब्रवीत् = ब्राह्मणोऽब्रवीत्। गुरवे + अदात् = गुरवेऽदात्।

'अत्' ग्रहण इसलिये है कि—वायो+इति, यहां पूर्वरूप न हुआ ॥१६०॥

२३३-प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे* ॥१६१॥६ ।१ ।११९॥

यहां से लेके सात सूत्रों का विषय वेदों में ही समझना।

यहां पदान्त एङ् से परे वकार यकार न हों, तो अकार के परे एङ् प्रकृति करके अर्थात् ज्यों-का-त्यों बना रहे, परन्तु वह पाद के बीच में हो।

जैसे — आरे अस्मे च शृण्वते। त्रयो अस्य पादाः। उपप्रयन्तो अध्वरम् शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः। यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः, इत्यादि।

* [नान्तः पादम् ॥ ऐसा पाठ महाभाष्य में है। 'अव्यपरे' अंश वार्तिक का जानना चाहिये।]

यहाँ 'पाद के 'बीच में' इसलिये कहा है— द्विषतो वधोऽसि । रक्षसां भागोऽसि, इत्यादि में एङ् प्रकृति करके न रहे 'वकार यकार परे न हों' यह इसलिये है कि—तेऽवदन् । तेऽयुः, इत्यादि में भी प्रकृतिभाव न हो ।। १६१।।

२३४-अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु च ।। १६२ ।। ६ । १ । ११२ ॥

पदान्त एङ् से अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमु, अव्रत, अयम्, अवन्तु, अवस्यु इन उत्तरपदों में वकार यकार पर भी अकार परे हो, तो पदान्त एङ प्रकृति करके रह जावे ।

जैसे — वसुभिर्नो अव्यात् । मित्रमहो अवद्यात् । मा शिवासो अवक्रमुः। ते नो अव्रतः । शतधारो अयं मणिः । ते नो अवन्तु पितरः । शिवासो अवस्यवः, इत्यादि ।। १६२॥

२३५-यजुष्युरः ।। १६३ ।। ६ । १ । ११३ ।।

यजुर्वेद में अकार के परे उरः शब्द का 'उरो' पदान्त एङ् होता है, वह प्रकृति करके रहे ।

जैसे—उरो अन्तरिक्षम्, इत्यादि ।। १६३ ।।

२३६-आपो जुषाणो वृष्णो वर्षिष्ठे अम्बे अम्बाले अम्बिके पूर्वे ।। १६४ । ६ । १ । ११४ ।।

यजुर्वेद में आपो, जुषाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे ये एङन्त शब्द अकार के पूर्व हों, तो प्रकृति करके रहें, और अम्बिके शब्द से पूर्व अम्बे, अम्बाले हों, तो ये दो शब्द इसी प्रकार रहें ।

जैसे— आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु । जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा । वृष्णो अंशुभ्या गभस्तिभिः । वर्षिष्ठे अधिनाके । अम्बे अम्बाले अम्बिके ।।१६४॥

२३७- अङ्ग इत्यादौ च ।। १६५।। ६ । १ । ११५ ॥

जो यजुर्वेद के अकार परे हो, तो 'अङ्गे' एङन्त शब्द प्रकृति करके रह जावे, और जो अङ्गे इसके परे आदि एङ् है, सो भी प्रकृति करके रहता है ।

जैसे — ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे-अङ्गे अदीध्यत् । ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे-अङ्गे निदीध्यत् (यजु: ६।२०) इत्यादि ।। १६५ ॥

२३८-अनुदात्ते च कुधपरे ।। १६६। ६। १। ११६।।

यजुर्वेद में जिस अनुदात्त अकार से परे कवर्ग और धकार हों, उसके परे पदान्त एङ् प्रकृति करके रह जावे ।

जैसे—अयं सो अग्निः । अयं सो अध्वरः, इत्यादि ।। १६६ ॥

२३९-अवपथासि च ।। १६७ ।। ६ । १ । ११७ ॥

अवपथास् इस अनुदात्त क्रिया के परे पदान्त जो एङ् है, वह प्रकृति करके रहे, यजुर्वेद में ।

जैसे—त्रिरुद्रेभ्यो अवपथाः, इत्यादि ।। १६७ ।।

२४०-सर्वत्र विभाषा गोः ।। १६८।। ६। १। ११८।।

सर्वत्र अर्थात् लोक और वेद में गो शब्द से परे ह्रस्व अकार रहे, तो गो शब्द का एङ् अर्थात् ओकार विकल्प करके प्रकृति अर्थात् ज्यों का त्यों बना रहे, और पक्ष में सन्धि भी हो जाय ।

गो अग्रम्; गोऽग्रम् । गो अङ्गानि; गोऽङ्गानि, ऐसे-ऐसे दो-दो रूप होते हैं ।। १६८।।

२४१-अवङ् स्फोटायनस्य ।। १६९।। ६। १। ११९॥

स्फोटायन आचार्य के मत में अच्मात्र के परे गो शब्द के ओकार के स्थान में अवङ् आदेश हो ही जाता है ।

यहां पूर्व से 'गो' शब्द की अनुवृत्ति आती है । जैसे — 'गो +

अश्वम्' ।। गवाश्वम् यहां तो आदेश हुआ, परन्तु जहां अन्य आचार्यों के मत में अवङ् आदेश नहीं होता वहां पूर्वरूप और प्रकृतिभाव होने से — 'गोऽश्वम्' और 'गो अश्वम्' ये दो रूप भी होते हैं ।।१६९।।

२४२ - इन्द्रे च[1] ।। १७० ।। ६ । १ । १२० ।।

गो शब्द के परे इन्द्र शब्द हो, तो नित्य अवङ् आदेश हो जाता है। जैसे—'गो+इन्द्रः=गवेन्द्रः ।। १७० ।।

२४३-प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्[2] ।।१७१।।६।१।१२१।।

प्लुत संज्ञा अष्टमाध्याय में लिखी, और प्रगृह्य संज्ञा इसी ग्रन्थ के आदि में लिख चुके हैं ।

प्लुत और प्रगृह्यसंज्ञक शब्द अच् प्रत्याहार के परे ज्यों के त्यों बने रहें।

जैसे—देवदत्त ३ इहागच्छ । माणवक ३ इहागच्छ । हे ३ इन्द्र । हे ३ अग्ने इत्यादि प्लुत के उदाहरण हैं । जहां-जहां प्लुत संज्ञा होती है, वहां-वहां उनकी परस्पर सन्धि कदापि नहीं होती । यहां तीन का अङ्क सर्वत्र प्लुत का चिह्न है ।

प्रगृह्य संज्ञा के उदाहरण क्रम से ये हैं । ईकारान्त द्विवचन — अग्नी इमौ । अग्नी अत्र । ऊकारान्त द्विवचन — वायू इह । वायू अत्र । एकारान्त द्विवचन - माले इमे । खट्वे इमे । कन्ये आसाते । अदस् शब्द के ईकार ऊकार के - अमी आसते । अमू आसाते इत्यादि ।।१७१।।

२४४-आङोऽनुनासिकश्छन्दसि बहुलम्[3] ।। १७२ ।। ६ । १ । १२२ ।।

---

१. [''इन्द्रे च नित्यम्' ।। इति काशिकापाठः]

२. [''प्लुतप्रगृह्या अचि'' ।। इति काशिकापाठः ।।]

३. [महाभाष्ये ''अङोऽनुनासिकश्छन्दसि'' इत्येव पाठः]

वेद में आङ् उपसर्ग को अनुनासिक आदेश और प्रकृति[भाव] भी होता है । जैसे — अभ्र आँ अपः । गभीर आँ उग्रपुत्रः, इत्यादि । 'बहुल' के कहने से कहीं नहीं भी होता । जैसे — इन्द्रो बाहुभ्यामातरत् । आ अतरत्, यहां न तो अनुनासिक और न प्रकृतिभाव हुआ ॥१७२॥

२८५-इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ॥ १७३ ॥ ६ । १ ॥ १२३ ॥

शाकल्य आचार्य के मत में इक् प्रत्याहार से परे असवर्ण अच् हो, तो उस इक् को प्रकृतिभाव और ह्रस्व आदेश हो ।

'इ—अ । इ—आ । ई—अ । ई—आ । उ—अ । उ—आ । ऊ—अ । ऊ—आ । ऋ—[अ । ऋ—] आ । [ॠ—अ ।] ॠ—आ । इ—उ । उ—इ । ऋ—इ । ऋ—उ । इ—ए । इ—ऐ । इ—ओ । इ—औ' इत्यादि क्रम से दो दो प्रयोग बनेंगे । अन्य आचार्यों के मत में जो सन्धि पाती है वह हो जावेगी ।

सन्धि अत्र; सन्ध्यत्र । अग्नि आधानम्; अग्न्याधानम् । कुमारि अत्र; कुमार्यत्र, यहां ईकार दीर्घ था, परन्तु इसी सूत्र से ह्रस्व हो गया । भूमि उद्धृता; भूम्युद्धृता । कुमारि ऊतिः ; कुमार्यूतिः । कुमारि ऋच्छति; कुमार्यृच्छति । कुमारि एति; कुमार्येति । कुमारि ओपति; कुमार्योपति । कुमारि ऐहत; कुमार्यैहत। कुमारि औहत; कुमार्यौहत ।

वधु आगमनम्; वध्वागमनम् । वधु इन्दति; वध्विन्दति । वधु ईहते; वध्वीहते । वधु ऋच्छति; वध्वृच्छति । वधु एति; वध्वेति । वधु ओखति; वध्वोखति । वधु ऐधिष्ट; वध्वैधिष्ट । वधु औदिष्ट; वध्वौदिष्ट ।

पितृ अयनम्; पित्रयनम् । पितृ आदरः; पित्रादरः । पितृ इक्षुः; पित्रिक्षुः पितृ ईहा; पित्रीहा । होतृ उखा; होत्रुखा । पितृ ऊहः; पित्रूहः; इत्यादि असंख्य प्रयोग बनते हैं ।

यहां 'असवर्ण' ग्रहण इसलिये है कि—कुमारि+ईहते' = कुमारीहते,

इसके दो प्रयोग न हों किन्तु नित्य ही दीर्घ एकादेश हो जावे । और 'शाकल्य' ग्रहण आदरार्थ है* ॥१७३॥

२४६-वा.-सिन्नित्यसमासयोः शाकलप्रतिषेधः ॥१७४॥ महा. ६ । १ । १२३ ॥

सित् प्रत्यय के परे और नित्यसमास में शाकल अर्थात् इस इकोऽसवर्णे.' सूत्र का कार्य न हो ।

'ऋतु + इयः' यहां 'इयः' सित् प्रत्यय है इसके परे प्रकृतिभाव नहीं होता । ऋत्वियः; यह एक ही प्रयोग होता है । नित्यसमास - वि आकरणम्- व्याकरणम् । कुमारी अर्थः = कुमार्यर्थः, यहाँ प्रकृतिभाव और ह्रस्व नहीं होता ॥ १७४ ॥

२४७-वा.-ईषा अक्षादिषु च्छन्दसि प्रकृतिभावमात्रम् ॥ १७५ ॥ महा. ६ । १ । १२३ ॥

जहां जहां वैदिक प्रयोगों में प्रकृतिभाव उक्त सूत्र के विषयों से पृथक् आवे वहाँ 'ईषा अक्षा' आदि शब्दों के समान समझना ।

जैसे-ईषा अक्षः । का ईमरे पिशङ्गिला । पथा अगमन्, इत्यादि ॥१७५॥

२४८-ऋत्यकः ॥ १७६ ॥ ६ ॥ १ । १२४ ॥

जो अक् प्रत्याहार से परे ह्रस्व ऋकार हो, तो वह शाकल्य ऋषि के मत में प्रकृतिभाव और ह्रस्व होता, और अन्य आचार्यों के मत में नहीं होता ।

खट्वा + ऋश्यः = खट्व ऋश्यः । माला + ऋश्यः = माल ऋश्यः, यहां

---

* [विकल्पार्थ नहीं, क्योंकि **"आरम्भसामर्थ्यादेव हि यणादेशेन सह विकल्पः सिद्धः"** अर्थात् यण् सन्धि के विधान सामर्थ्य से ही यण् और प्रकृतिभाव के विधानसामर्थ्य से ही प्रकृतिभाव होकर दोनों रूप बन जायेंगे ।

ह्रस्व और प्रकृतिभाव हुआ । और — खट्वर्श्यः, मालर्श्य; यहां न हुआ । इत्यादि प्रयोग बनते हैं ।

यहां 'अक्' ग्रहण इसलिये है कि — 'कुमारावृषी' यहां सन्धि हो जाय ।। १७६ ।।

२४९-अप्लुतवदुपस्थिते ॥ १७७॥ ६ । १ । १२५॥

जो प्लुत से परे उपस्थित अर्थात् अनार्ष इति शब्द हो, तो प्लुत को अप्लुतवत् कार्य हो, अर्थात् प्लुत को प्रकृतिभाव न हो ।

जैसे — सुभद्रा३इति = सुभद्रेति । सुमङ्गला३इति = सुमङ्गलेति । सुश्लोका३इति = सुश्लोकेति ।

जिन शब्दों की प्रगृह्यसंज्ञा होती है, उनमें से किसी-किसी की प्लुत संज्ञा भी होती है । जैसे अग्नी३इति, इत्यादि । यहां प्लुत को अप्लुतवत् नहीं हुआ, क्योंकि प्रगृह्य संज्ञा को मान के प्रकृतिभाव हो जाता है ॥ १७७॥

२५०-ई३ चाक्रवर्मणस्य ॥ १७८॥ ६ । १ । १२६॥

जो प्लुत ई३कार है, वह चाक्रवर्म्मण आचार्य्य के मत में अप्लुतवत् होता है, अर्थात् उसको प्लुत का कार्य नहीं होता ।

चिनुही३ + इदम् = चिनुहीदम् । सुनुही३+इदम् = सुनुहीदम्, इत्यादि। यहां भी पूर्व सूत्र [सन्धि. १७३] से प्रकृतिभाव हो जाता, परन्तु यह सूत्र उपस्थित से अन्यत्र ही अप्लुतवत् करता है ।। १७८ ।।

२५१-इको यणचि ।। १७९ ।। ६ । १ । ७४ ॥

इक् प्रत्याहार अर्थात् 'इ उ ऋ ऌ' इन चार वर्णों से परे अच् हो, तो इन के स्थान में क्रम से यण् अर्थात् 'य् व् र् ल्' ये चार वर्ण हो जावें।

जैसे—'वापी + अश्वः' = वाप्यश्वः । 'कुमारी + अपि' = कुमार्य्यपि, यहां वहिरङ्गलक्षण यणादेश को असिद्ध मानकर संयोगान्तलोप नहीं होता । वधू + अत्र = वध्वत्र । पितृ + अर्थम् = पित्रर्थम् । ऌ + अनुबन्धः =

लनुबन्धः । इत्यादि असंख्य उदाहरण बनते हैं ॥ १७९ ॥

२५२-एचोऽयवायावः ॥ १८० ॥ ६ । १ । ७५ ॥

एच् अर्थात् 'ए ओ ऐ औ' इन चार वर्णों से परे अच् हो, तो इनके स्थान में क्रम से 'अय्, अव्, आय्, आव्', ये आदेश होते हैं ।

जे+अः = जयः। माले + आ = मालया । माले + ओः = मालयोः, इत्यादि । वायो + आयाहि = वायवायाहि । लो + अः = लवः इत्यादि । ऐ + अः = आयः, इत्यादि । लौ + अकः = लावकः, इत्यादि ।।१८०॥

२५३-वान्तो यि प्रत्यये ॥ १८१ । ६ । १ । ७६ ॥

वान्त अर्थात् जो पूर्व सूत्र से अव्, आव् आदेश कहे हैं, वे यकारादि प्रत्यय के परे भी हो जावें ।

जैसे—अव्—बाभ्रो+यः बाभ्रव्यः । आव्—'नौ+यः' = नाव्यः, इत्यादि।

यहाँ 'वान्त' ग्रहण इसलिये है कि—रैयति, यहाँ न हो । 'यकारादि' ग्रहण इसलिये है कि—नौका, यहाँ न हो । 'प्रत्यय' ग्रहण इसलिये है कि—गोयानम्, यहाँ अव् आदेश न हो जावे ॥ १८१ ॥

२५४-वा.-गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्यानम् ॥ १८२ ॥ महा. ६ । १ । ७६ ॥

वैदिक प्रयोगों में गो शब्द से परे यूति हो, तो गो शब्द के [ओकार के] स्थान में वान्त आदेश हो जाय ।

"आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्," [ऋ.३ । ६२ । १६], यहां 'गो' आगे 'यूतिः' इसका 'गव्यूतिः' हुआ है ॥ १८२ ॥

२५५-वा.-अध्वपरिमाणे च ॥ १८३ ॥ महा. ६ । १ । ७६ ॥

मार्ग के परिमाण का अर्थ हो, तो यूति शब्द के परे गो शब्द के [ओकार के] स्थान में वान्त आदेश हो ।

जैसे — 'गो + यूतिः' = गव्यूतिः । गव्यूतिमध्वानं गतः । दो कोश को 'गव्यूति' कहते हैं ।।१८३॥

२५६-धातोस्तन्निमित्तस्यैव ।।१८४।। ६ । १ । ७७ ॥

जहाँ यकारादि प्रत्यय को मानके धातु को एच् हुआ हो, तो यकारादि प्रत्यय के परे अव्, आव् आदेश होता है, अन्यत्र नहीं ।

'भो + यम्' = भव्यम् । 'अवश्यलौ + यम्' अवश्यलाव्यम् ।

यहाँ 'धातु' ग्रहण इसलिये है कि प्रातिपदिक का नियम न हो जावे। 'तन्निमित्त' ग्रहण इसलिये है कि — ओयते लौयमानिः यहाँ यकारादि प्रत्ययनिमित्त एच् नहीं है ।।१८४॥

२५७-क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे ।। १८५।। ६ । १ । ७८ ॥

यत् प्रत्यय परे हो, तो शक्यार्थ में 'क्षि, जि' धातुओं के एकार को अय् आदेश निपातन किया है ।

क्षेतुं शक्यः = क्षय्यः । जेतुं शक्यो = जय्यः ।

शक्यार्थ' इसलिये कहा है कि —क्षेयं पापम्, इत्यादि में अय् नहीं होवे ।। १८५ ।।

२५८-क्रय्यस्तदर्थे ।। १८६ ।। ६ । १ । ७९ ।।

क्री धातु का अर्थ जो बेचने का है वह बाच्य हो और यत् प्रत्यय परे हो, तो 'क्री' धातु के एकार को अय् आदेश निपातन किया है ।

क्रय्यो गौः। क्रय्यः कम्बलः ।

'तदर्थ' इसलिये कहा कि — क्रेयं धान्यम्, यहां द्रव्यावाच्य विक्रेयार्थ में न होवे[1] ॥ १८६ ॥

२५९-भय्यप्रवय्ये च छन्दसि ॥ १८७॥ ६। १। ८०॥

यत् प्रत्यय परे हो, तो वेद विषय में 'भी' और प्रपूर्वक 'वी' धातु के एकार को अय् आदेश निपातन किया है ।

भय्यम् । प्रवय्या । यहाँ 'भय्य्' शब्द में अपादान में प्रत्यय है, और 'प्रवय्या' स्त्रीलिङ्ग में नियत है, वेद में इसलिये कहा है कि — भेयम् प्रवेयम् । यहां न हो ॥ १८७॥

२६०-वा. ह्रदय्या आप उपसंख्यानम् ॥ १८८ ॥ महा. ६ । १ । ८० ॥

जल अर्थ में ह्रद शब्द के एकार को यत् प्रत्यय के परे अय् आदेश हो । ह्रदय्या आप: ॥ १८८ ॥

इति स्वरसन्धि: ॥

---

१. [जो द्रव्य दुकानादि में बेचने के लिये प्रस्ततु किया जाता है वह 'क्रय्य'' और जो केवल बिकने की योग्यता रखता हो किन्तु बेचने के लिये न हो वह ''क्रेय'' कहाता है । ''क्रेयं नो धान्यं न चास्ति क्रय्यम्'' महाभाष्य ॥]

अथ हल्स्वरसन्धिः

२६१-चोः कुः ।। १८९ ।। ८ । २ । ३० ॥

पदान्त में वर्त्तमान चवर्ग के स्थान में कवर्ग आदेश हो जाता है, और झल् परे हो तो भी ।

इससे 'वाच्' आदि चकारान्त शब्दों को ककारादेश हो जाता है । जैसे - वाच् + सु' = वाक्; वाग्, इत्यादि ।। १८९ ॥

२६२-झलां जशोऽन्ते ।। १९० ।। ८ । २ । ३९ ।।

पदान्त में झलों के स्थान के जश् आदेश हो ।

देखो, जहां चकारान्त शब्दों को ककार होता है, उनसे उत्तरपद के आदि में स्वर हों, तो ककार को गकार हो जाता है । जैसे — वाक् + अत्र = वागत्र । और चकार के, अच् + अन्तः = अजन्तः, इत्यादि, यहां जकार हो जाता है ।

'प्रष्ठवाह्; दित्यवाह्; तुरासाह्' इत्यादि हकारान्त शब्दों से परे, स्वर हों, तो इनको जश् आदेश हो जाता है । जैसे - 'प्रष्ठवाह् + इह' = प्रष्ठवाडिह ।

षट् + अन्तः = षडन्तः । विट् + इह = विडिह । सम्राट् + अत्र= सम्राडत्र । विराट् + ईहते = विराडीहते, इत्यादि टकारान्त शब्दों के स्थान में डकारान्त हो जाते हैं ।

जो धकारान्त शब्दों से परे स्वर हो, तो दकार हो जाता है । जैसे- समिध् + अत्र = समिदत्र । समिध् + आधानम् = समिदाधानम्, इत्यादि ।

जो तकारान्त शब्दों से परे अजादि उत्तरपद हों, तो तकार को दकार हो जाता है । जसे-विद्युत् + आपतनम्-विद्युदापतनम् । विद्युत् + इह=विद्युदिह ।

पकारान्त तथा भकारान्त शब्दों के अन्त में अजाति उत्तरपद परे हों, तो बकार आदेश हो जाता है । जैसे – 'अप् + अयनम् = अबयनम् । 'तिप् + अन्तः' = तिबन्तः । 'सुप् + अन्तः' = सुबन्तः, इत्यादि भकारान्त – 'अनुष्टुभ् + एव'= अनुष्टुबेव । 'त्रिष्टुभ् + आदि' = त्रिष्टुबादि ।

जो इनसे भिन्न अन्य वर्णान्त शब्द पदान्त में आवेंगे, तो उनमें कुछ विशेष विकार न होगा । जैसे — झय् + आदि = झयादि । सम् + अवैति = समवैति। प्रातर् + अत्र = प्रातरत्र । पुनर् + इह = पुनरिह, इत्यादि ।। १९० ।।

इति हल्स्वरसन्धिः ।।

❑❑❑

अथ हल्सन्धिः

[अनुस्वारप्रकरणम्]

अब इसके आगे पदान्त अथवा अपदान्त नकार, मकार वा अन्य वर्ण को जिस-जिस वर्ण के परे जो-जो कार्य होते हैं, उस-उस को लिखते हैं-

२६३-मोऽनुस्वारः । १९१ ॥ ८ । ३ । २३ ॥

जो हल् परे हो, तो पदान्त मकार को अनुस्वार होता है ।

जैसे—'ग्रामम् + याति' = ग्रामं याति ।

यहां—'पदान्त की अनुवृत्ति' इसलिये है कि—गम्यते, यहां अनुस्वार न हुआ ॥ १९१ ॥

२६४-नश्चाऽपदान्तस्य झलि ॥ १९२॥ ८। ३॥ २४॥

जो झल् प्रत्याहार परे हो, तो अपदान्त अर्थात् एक पद में नकार और मकार को अनुस्वार होता है ।

जैसे—'मीमान् + सते' = मीमांसते । 'पुम् + सु' = पुंसु, इत्यादि।

इस विषय में यह समझना चाहिये कि 'श; ष; स; ह' इतने वर्णों के परे अपदान्त नकार मकार को अनुस्वार हो जाता है परन्तु वैदिक प्रयोगों में श; ष; स; र; ह इन वर्णों के परे अनुस्वार को ꣳ आदेश होता है, क्योंकि—"**रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति** ॥ महा. १ । १ । २ ।" इस ज्ञापक से सवर्णादेश का निषेध होकर असवर्णादेश होता है । इस में भी जो कुछ विशेष होगा वह आगे लिखेंगे ।

'झल्' प्रत्याहार ग्रहण इसलिये है कि—मन्यते, यहां न हुआ । और झल् प्रत्याहार में बाक़ी जो वर्ण [श, ष, स, र, ह को छोड़कर] बचे हैं,

उनके परे अपदान्त नकार मकार को अनुस्वार होके जो कुछ विकार होता है, वह आगे लिखेंगे ।।१९२॥

२६५-मो राजि समः क्वौ ॥ १९३॥ ८। ३ । २५॥

क्विप् प्रत्ययान्त राज् धातु परे हो, तो सम् उपसर्ग के मकार को मकार ही आदेश हो* ।

जैसे—'सम् + राट्' = सम्राट् । 'साम् + राज्यम्' = साम्राज्यम्।

यहाँ 'सम्' ग्रहण इसलिये है कि—स्वयंराट्, इत्यादि में नहीं होता 'क्विप् प्रत्ययान्त' ग्रहण इसलिये है कि—संराजितव्यम् । संराजितुम्, यहां न हुआ ।। १९३ ।।

२६६-हे मपरे वा ।। १९४ ।। ८ । ३ । २६ ।।

जिससे परे मकार हो, ऐसे हकार के परे पदान्त मकार, को मकार आदेश विकल्प करके होता है, द्वितीय पक्ष में मकार को अनुस्वार होता है।

जैसे - किम्ह्मलयति; किं ह्मलयति । कथम्ह्मलयति; कथं ह्मलयति, इत्यादि ।

यहां 'मपर हकार' का ग्रहण इसलिये है कि—किं हससि' इत्यादि में न हो ।।१९४॥

२६७-वा.-यवलपरे यवला वा ।।१९५॥ महा. ८ । ३ । २६ ।।

जिससे परे य, व, ल वर्ण हो ऐसा हकार परे हो, तो पदान्त मकार को सानुनासिक य, व, ल विकल्प करके होते हैं, पक्ष में अनुस्वार हो जाता है ।

---

* [''मकारस्य मकारवचनमनुस्वारनिवृत्त्यर्थम् = मकार को मकारादेश कथन अनुस्वार की निवृत्ति के लिये है ।'']

य—कियँह्योऽभवत्; किं ह्योऽभवत् । व—किवँ ह्वलयति; किं ह्वलयति। ल—किलँह्लादयति; किं ह्लादयति, इत्यादि ।

प्रत्युदाहरण—जैसे = किं ह्ष्यसि, इत्यादि में न हुआ ।। १९५ ।।

२६८-नपरे नः ।। १९६ ।। ८ । ३ । २७ ।।

जो हकार से परे नकार हो, तो मकार को विकल्प करके नकार आदेश होता है, पक्ष में अनुस्वार होगा ।

जैसे—किन्ह्नुते; किं ह्नुते ।। कथन्ह्नुते; कथं ह्नुते इत्यादि ।

''नपर हकार' इसलिये कहा है कि—किं हृदयं तेऽस्ति, यहां न हुआ ।। १९६ ।।

अब पदान्त नकार मकार को अनुस्वार हो के जो-जो विशेष होता है, सो लिखते हैं —

२६९-अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ॥१९७॥८।४।५७॥

जो यय् प्रत्याहार परे हो, तो अपदान्त अनुस्वार को परसवर्ण आदेश होता है ।

इससे उत्तरसूत्र में पदान्तग्रहण के ज्ञापक ये यह सूत्र अपदान्त के लिये है । जैसे — 'अं + कः = अङ्कः । अं + चनम् = अञ्चनम् । वं + टनम् = वण्टनम् । अं+तितः = अन्तितः । चं + डः = चण्डः । कं + पनम् = कम्पनम्, इत्यादि ।

परसवर्ण अर्थात् जिस वर्ग का अक्षर परे हो, उसी वर्ग का अनुनासिक वर्ण अनुस्वार के स्थान में हो जाता है । जैसे—कवर्ग के परे पूर्व अनुस्वार के स्थान में ङकार ही होगा, इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये ।।१९७॥

२७०-वा पदान्तस्य ।। १९८ ।। ८ । ४ । ५८ ।।

यय् प्रत्याहार के परे पदान्त अनुस्वार को पर का सवर्णी आदेश विकल्प करके होता है ।

जैसे — कटङ्करोति; कटं करोति । बालञ्चेतयति; बालं चेतयति । ग्रामण्टीकते; ग्रामं टीकते । नदीन्तरति; नदीं तरति । प्रजाम्पिपर्ति; प्रजां पिपर्ति । सँय्यन्ता संयन्ता । सँव्वत्सरः; संवत्सरः । यँल्लोकम् यं लोकम्, इत्यादि ॥ १९८॥

— इत्यनुस्वारप्रकरणम् ॥

२७१-तोर्लि ॥ १९९ ॥ ८ । ४ । ५९ ॥

लकार परे हो, तो तवर्ग के स्थान में परसवर्ण हो जावे ।

जैसे—अग्निचित् + लुनाति = अग्निचिल्लुनाति । विद्युत् + लेलायते= विद्युल्लेलायते । भवान् + लक्षयति = भवाँल्लक्षयति, इत्यादि ॥ १९९ ॥

२७२-ङ्णोः कुक् टुक् शरि ॥ २००॥ ८। ३। २८॥

शर् प्रत्याहार परे हो, तो पदान्त ङकार णकार को विकल्प करके कुक् टुक् आगम यथाक्रम से होता है ।

जैसे—उदङ्क्शेते; उदङ् शेते । उदङ् क्षष्ठः; उदङ् षष्ठः । उदङ्क्सुनोति; उदङ् सुनोति । प्रवण्ट्शेते; प्रवण् शेते । प्रवण्ट्ष्वष्कते; प्रवण, ष्वष्कते । प्रवण्ट्सरति; प्रवण् सरति, इत्यादि ॥२००॥

२७३-डः सि धुट् ॥ २०१॥ ८ । ३ । २९ ॥

जो पदान्त डकार से परे सकारादि उत्तरपद हो, तो उसकी विकल्प करके धुट् का आगम होता है ।

जैसे—श्वलिट्त्सीयते; श्वलिट् सीयते । मधुलिट्त्सीयते; मधुलिट् सीयते, इत्यादि ॥२०१॥

२७४-नश्च ॥ २०२ ॥ ८ । ३ । ३० ॥

जो पदान्त नकार से परे सकारादि उत्तरपद हो, तो उसको धुट् का आगम विकल्प करके होता है ।

भवान्त्सनोति; भवान् सनोति, इत्यादि ।। २०२ ।।

२७५-शि तुक् ।। २०३ ।। ८ । ३ । ३१ ।।

जो पदान्त नकार से परे शकारादि उत्तरपद हो, तो उसको विकल्प करके तुक् का आगम होता है ।

जैसे—भवाञ्च्छेते; भवाञ्छेते, इत्यादि ।। २०३ ।।

२७६-ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् ।। २०४ ।। ८ । ३ । ३२ ।।

ह्रस्व से परे जो पदान्त ङम् प्रत्याहार, उससे परे अजादि उत्तरपद को नित्य ही ङमुट् का आगम होता है । अर्थात् ङकार से ङुट् णकार से णुट्, नकार से परे नुट् का आगम होता है ।

जैसे—तिङ्+ अतिङः = तिङ्ङतिङः ।उदङ्ङास्ते ।प्रवण्णास्ते ।प्रवण्णवोचत् । कुर्वन्नास्ते । तस्मिन् + इति = तस्मिन्निति, इत्यादि ।। २०४ ।।

२७७-मय उञो वो वा ।। २०५ ।। ८ । ३ । ३३।।

जो मय् प्रत्याहार से परे उञ् अव्यय, उसको अजादि उत्तरपद परे हो। तो विकल्प करके वकार आदेश होता है ।

जैसे—शम्—उ—अस्तु; शम्वस्तु । तद्—उ—अस्य; तद्वस्य। किम्—उ—आवपनम्; किम्वावपनम्, इत्यादि ।। २०५ ।।

अब इसके आगे तुक् का आगम लिखते हैं —

२७८-ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ॥ २०६ ॥ ६ । १ । ६९ ॥

पूर्व ह्रस्व को तुक् का आगम होता है, जो पित् कृत् परे हो तो। पुण्यकृद् । अग्निचित्, इत्यादि ।। २०६ ॥

२७९-संहितायाम् ।। २०७ ।। ६ । १ । ७० ॥

यह अधिकार सूत्र है । इसके आगे जो-जो कहेंगे सो-सो संहिता विषय में समझना ।। २०७ ॥

२८०-छे च ।। २०८ ।। ६ । १ । ७१ ।।

जो ह्रस्व से परे छकारादि उत्तरपद हो, तो पदान्त अपदान्त में भी उसके तुक् का आगम होता है ।

जैसे - 'इ + छति' = इच्छति । गच्छति । स्वच्छन्दः । देवदत्तच्छत्रम्; इत्यादि ।। २०८ ।।

२८१-आङ्माङोश्च ।। २०९ ।। ६ । १ । ७२ ।।

जो आङ् और माङ् से परे छकार हो, तो तुक् का आगम होता है।

ईषदर्थ, क्रियायोग, मर्यादा, अभिविधि इन अर्थों में आकार ङित् आता है । ईषदर्थ — आ + छाया = आच्छाया । क्रियायोग — आ + छादनम्= आच्छादनम् । मर्य्यादा — आ + छायायाः = आच्छायायाः । अभिविधि — आ + छायम् = आच्छायम् । मा + छैत्सीत् = माच्छैत्सीत् । माच्छिदत्; इत्यादि ।। २०९ ।।

२८२-दीर्घात् ।। २१० ।। ६ । १ । ७३ ।।

जो अपदान्त अर्थात् एकपद में दीर्घ से परे छकार हो, तो उसको तुक् का आगम होता है ।

जैसे—ह्री+छति=ह्रीच्छति । म्लेच्छति, इत्यादि ।। २१०॥

२८३-पदान्ताद्वा ।। २११ ।। ६ । १ । ७४ ।।

जो पदान्त दीर्घ से परे छकारादि उत्तरपद हो, तो उसको तुक् का आगम विकल्प करके होता है ।

जैसे—गायत्री छन्दः; गायत्रीच्छन्दः, इत्यादि ।। २११ ।।

२८४ - वा. - विश्वजनादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् ॥२१२॥ महा. ६ । १ । ७४ ॥

विश्वजन आदि शब्दों से परे छकार को विकल्प करके तुक् का आगम होता है ।

पूर्व छे च ।। अ. ६ । १ । ७१ ।। सन्धि. २०८ इस सूत्र से ह्रस्व से परे नित्य तुक् प्राप्त था, उसका विकल्प यह समझना चाहिये ।

जैसे—विश्वजनछत्रम्; विश्वजनच्छत्रम् ।। २१२ ।।

— तुक् प्रकरण पूरा हुआ ।।

२८५-स्तोः श्चुना श्चुः ।।२१३।। ८ । ४ । ३९ ।।

सकार और तवर्ग को शकार चवर्ग के साथ क्रम से शकार और चवर्ग होते हैं ।

जैसे—विष्णुमित्रस् + शोभते = विष्णुमित्रश्शोभते । सकार का चवर्ग के साथ, जैसे—देवदत्तस् - चलति = देवदत्तश्चलति, इत्यादि । तवर्ग का शकार के साथ, जैसे—अग्निचित् + शेते = अग्निचिच्छेते, इत्यादि । तवर्ग का चवर्ग के साथ, जैसे—अग्निचित् = छादयति = अग्निचिच्छादयति, इत्यादि अनेक उदाहरण हैं ।। २१३ ।।

२८६-ष्टुना ष्टुः ।। २१४ ।। ८ । ४ । ४० ।।

सकार और तवर्ग को षकार और टवर्ग के साथ षकार और टवर्ग होते हैं ।

जैसे - पुरुषस् + षष्ठः - पुरुषष्षष्ठः, इत्यादि । पुरुषस् + टीकते = पुरुषष्टीकते, इत्यादि । टवर्ग का सकार के साथ - शूद्रस् + टलति = शूद्रष्टलति, इत्यादि । तवर्ग का टवर्ग के साथ - योषित् + टलति = योषिट्टलति, इत्यादि ।। २१४ ।।

२८७-न पदान्ताट्टोरनाम् ॥ २१५ ॥ ८ । ४ । ४१ ॥

अनाम् अर्थात् षष्ठी के बहुवचन को छोड़ के पदान्त टवर्ग से उत्तर सकार और तवर्ग को षकार और टवर्ग आदेश न हों ।

जैसे— षट् सन्ति । मधुलिट् तरति, इत्यादि ।। २१५ ।

जो सूत्रकार ने 'आम्' अर्थात् षष्ठी के बहुवचन को छोड़ के ष्टुत्व का निषेध किया है, उसी में वार्त्तिककार कहते हैं कि -

२८८-वा.-अनांनवतिनगरीणामिति वाच्यम् ।। २१६ ।। महा. ८ । ४ । ४१ ।।

नाम् के निषेध के साथ नवति और नगरी शब्द का भी निषेध कहना चाहिये ।

जैसे—षट् + नाम् = षण्णाम् । षट् + नवतिः = षण्णवतिः । षट् + नगर्य्यः = षण्णगर्यः, इत्यादि ।

सूत्र में 'पदान्त' ग्रहण इसलिये है कि - ईड् + ते = ईट्टे, यहां टवर्ग आदेश का निषेध न हुआ । 'टवर्ग से परे' इसलिये है कि - निष् + तप्तम् = निष्टप्तम् । सर्पिष् + तमम् = सर्पिष्टमम्, यहां टुत्व हो ही गया ।। २१६ ।।

२८९-तोष्षि ।। २१७ ।। ८ । ४ । ४२ ।।

षकार के परे रहने पर तवर्ग को टवर्ग आदेश न हो ।

जैसे - योषित् + षण्ढः = योषित्षण्ढः, इत्यादि ।। २१७ ।।

२९०-शात् ।। २१८ ।। ८ । ४ । ४३ ।।

शकार से परे तवर्ग को चवर्ग आदेश न हो ।

जैसे—विश्नः । प्रश्नः, यहां ञकार न हुआ ।। २१८ ।।

२९१-यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ।। २१९ ।। ८ । ४ । ४४ ।।

जो अनुनासिकादि उत्तरपद परे हो, तो पदान्त यर् को अनुनासिक आदेश विकल्प करके होता है ।

जैसे - वाक् + नमति = वाङ्नमति; वाग्नमति । जिस पक्ष में अनुनासिक नहीं हुआ, वहां पदान्त में जश् आदेश होता है । त्रिष्टुभ् + नाम = त्रिष्टुम्नाम; त्रिष्टुब्नाम ।

यहां 'पदान्त' ग्रहण इसलिये है कि—दभ्नोति । क्षुभ्नाति । रुक्मम्, इत्यादि उदाहरणों में नहीं होता ।। २१९ ।।

२९२-वा.-यरोऽनुनासिके प्रत्यये भाषायां नित्यं वचनम् ।। २२० ।। महा. ८ । ४ । ४४ ।।

अनुनासिकादि प्रत्यय परे हो, तो यर् को अनुनासिक नित्य ही होता है, भाषा अर्थात् लौकिक प्रयोग विषय में ।

जैसे—वाङ्मयम् । चिन्मयम् , इत्यादि ।

यहां 'भाषा' ग्रहण इसलिये है कि वेद में पूर्ववत् दो ही प्रयोग हों। जैसे—वाङ्मयम्, वाग्मयम्, इत्यादि ।। २२० ।।

२९३-अचो रहाभ्यां द्वे ।। २२१ ।। ८ । ४ । ४५ ।।

अपदान्त में अच् से उत्तर जो रेफ हकार और उनसे उत्तर जो यर् हों, तो उनकी विकल्प करके द्वित्व होता है ।

जैसे—कार् + यम् = कार्य्यम् कार्यम् । हर्य्यनुभव:; हर्यनुभव: । ब्रह्म्म; ब्रह्म । अपह्न्नुति:, अपह्नुति:, इत्यादि ।

यहां 'अच् से परे' इसलिये कहा है कि—रातिर्ह्लयति, इत्यादि । यहां द्विर्वचन न हुआ ।। २२१ ।।

२९४-अनचि च ।। २२२ ।। ८ । ४ । ४६ ।।

जो अच् से परे और [अनच् अर्थात्] हल् के पूर्व यर् प्रत्याहार हो, उसको विकल्प करके द्वित्व होता है ।

जैसे—दधि + अत्र = दद्ध्यत्र; दध्यत्र, इत्यादि । यहां द्वित्व होकर [सन्धि. २३४ सूत्र से] पूर्व धकार को दकार हो गया ।

'अच्' ग्रहण इसलिये है-स्मितम् । स्तुतम्, इत्यादि में न हो ।।२२२।।

२९५-वा.-द्विर्वचने यणो मयः ।। २२३ ।। महा. ८ । ४ । ४६ ।।

इस वार्त्तिक के दो अर्थ हैं । एक तो-यण् से परे मय् को द्वित्व होता है । और दूसरा-मय् से परे यण् को द्वित्व हो ।

जहां यण् से परे मय् को द्वित्व होता है, वहां-उल्क्का । वल्म्मीकम्; इत्यादि उदाहरण बनते हैं । और जहां मय् से परे यण् को द्वित्व होता है, वहां - दध्य्यत्र । मध्व्वत्र, इत्यादि उदाहरण बनते हैं ।। २२३ ।।

२९६-वा.-शरः खयः ।। २२४।। महा. ८। ४। ४६।।

इस वार्त्तिक में भी दो मत हैं । एक तो - शर् से परे खय् को द्विर्वचन होता है । और दूसरा - खय् से परे शर् को द्विर्वचन हो ।

जैसे—स्त्थाली । स्त्थाता । स्प्फोटः । स्त्तोतः श्च्च्योतति । संवत्स्सरः। कष्षीरम् । अप्स्सराः, इत्यादि ।। २२४ ।।

२९७-वा.-अवसाने च ॥ २२५॥ महा.८। ४ । ४६॥

जो अवसान् में यर् हैं, उनको विकल्प करके द्विर्वचन होता है ।

जैसे—वाक्क्ः वाक्, इत्यादि ।। २२५ ।।

२९८-नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य ॥ २२६॥ ८ । ४ । ४७॥

जो आक्रोश अर्थ में आदिनी शब्द परे हो, तो पुत्र शब्द के तकार को द्विर्वचन न हो ।

यह "अनचि च" । इस सूत्र का अपवाद है । जैसे - 'पुत्र + आदिनी' = पुत्रादिनी ।

आक्रोश ग्रहण इसलिये है कि - पुत्त्रादिनी सर्प्पिणी, यहां हो गया ।। २२६ ।।

२९९-वा.-तत्परे च ॥ २२७ ॥ महा. ८ । ४ । ४७ ॥

पुत्र शब्द से परे पुत्र शब्द हो, तो भी उसको द्विर्वचन न हो ।

जैसे—पुत्रपुत्रादिनी ।। २२७ ।।

३००-वा.-वा हतजग्धयोः ॥ २२८ ॥ महा.८ । ४ । ४७ ॥

जो पुत्र शब्द से परे हत और जग्ध शब्द हों, तो उसको विकल्प करके द्विर्वचन होता है ।

जैसे—पुत्त्रहती, पुत्रहती । पुत्त्रजग्धी; पुत्रजग्धी, इत्यादि ।। २२८ ।।

३०१-वा.-चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेः ।। २२९ ॥ महा. ८ । ४ । ४७ ।।

जो शर् प्रत्याहार के परे चय् प्रत्याहार हो, तो उसके स्थान में वर्गों के द्वितीयवर्ण आदेश हो जाते हैं । यह पौष्करसादि आचार्य्य का मत है। जैसे—

क्शाता; ख्शाता । वत्सर; वथ्सरः । अप्सराः; अफ्सरा; इत्यादि ।।२२९ ।।

३०२-शरोऽचि ।। २३० ।। ८ । ४ । ४८ ।।

जो अच् परे हो, शर् प्रत्याहार को द्विर्वचन न हो ।

जैसे—दर्शनम् । कर्षति, इत्यादि ।

यहां 'अच्' ग्रहण इसलिये है कि - दश्‍र्यते, इत्यादि में निषेध न हो ।। २३० ।।

३०३-त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य ।। २३१ ।। ८ । ४ । ४९ ।।

जहां तीन आदि वर्ण इकट्ठे हों, वहां शाकटायन आचार्य के मत से द्विर्वचन न हो ।

जैसे—इन्द्रः । चन्द्रः । उष्ट्रः । राष्ट्रम्, इत्यादि ।। २३१ ।।

३०४-सर्वत्र शाकल्यस्य ।। २३२ ।। ८ । ४ । ५० ।।

जहां-जहां द्विर्वचन कह आये हैं, वहां वहां शाकल्य आचार्य्य के मत से न होना चाहिये ।

जैसे—अर्कः । ब्रह्मा । दध्यत्र । मध्वत्र, इत्यादि ।। २३२ ।।

३०५-दीर्घादाचार्याणाम् ।। २३३ ।। ८ । ४ । ५१ ।।

सब आचार्यों के मत से दीर्घ से परे यर् को द्विर्वचन न होना चाहिये।

जैसे—दात्रम् । पात्रम् । स्तोत्रम्, इत्यादि ।। २३३ ।।

३०६-झलाञ्जश् झशि ।। २३४ ।। ८ । ४ । ५२ ।।

जो झश् प्रत्याहार परे हो, तो झलों के स्थान में जश् आदेश होता है ।

जैसे—लभ् + धा = लब्धा । दोघ् + धा = दोग्धा । दद्ध्यत्र, इत्यादि।

यहां 'झश्' ग्रहण इसलिये है कि - दत्तः । आत्थ, इत्यादिकों में न हो ।। २३४ ।।

३०७-खरि च ।। २३५ ।। ८ । ४ । ५४ ।।

जो खर् प्रत्याहार हो, तो झलों को चर् आदेश हों ।

जैसे—भेद् + ता = भेत्ता । लिभ् + सा = लिप्सा । युयुध् + सते = युयुत्सते, इत्यादि ।। २३५ ।।

३०८-उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ॥ २३६ ॥ ८ । ४ । ६० ॥

उद् से परे स्था और स्तम्भ धातु के सकार के स्थान में पूर्व का सवर्णी आदेश होता है ।

जैसे—उद् + स्थानम् = उत्थानम्, यहां एक थकार को पूर्व सूत्र से तकार हो जाता है । उत्थाता, उत्थातुम्, उत्थातव्यम् । उद् + स्तम्भनम् = उत्तम्भनम्, उत्तम्भिता, उत्तम्भितुम्, उत्तम्भितव्यम्, इत्यादि ।

'स्थास्तम्भ' का ग्रहण इसलिये कि - 'उद् + स्कभ्नोति = उत्स्कभ्नोति', इत्यादि में न हुआ ।। २३६ ।।

३०९-वा.-उदःपूर्वत्वे स्कन्देश्छन्दस्युपसंख्यानम् ॥ २३७ ॥ महा. ८ । ४ । ६० ॥

वैदिक प्रयोगों में उद् उपसर्ग से परे स्कन्द धातु को पूर्वसवर्ण आदेश हो ।

जैसे—अध्न्ये दूरमुत्कन्दः । यहां 'उद् + स्कन्दः' सकार को पूर्वसवर्ण तकार होकर—'उत्कन्दः' ऐसा होता है ।। २३७ ।।

३१०-वा.-रोगे चेति वक्तव्यम् ।। २३८ ।। महा. ८ । ४ । ६० ।।

रोग अर्थ में भी उद् उपसर्ग से परे स्कन्द को पूर्वसवर्ण आदेश हो जावे।

जैसे—उत्कन्दो रोगः ।। २३८ ।।

३११-झयो होऽन्यतरस्याम् ।। २३९ ॥ ८ । ४ । ६१ ॥

झय् प्रत्याहार से परे हकार को पूर्वसवर्ण आदेश विकल्प करके होता है।

जैसे—कवर्ग से परे हो, तो घकार—वाग् हसति; वाग्घसति । टवर्ग से परे हो, तो ढकार = लघड् हन्ता; लघड्ढन्ता । तवर्ग से परे हो, तो

धकार—अग्निचित् हसति; अग्निचिद्धसति । पवर्ग से परे हो, तो भकार होता है— त्रिष्टुब् हसति; त्रिष्टुब्भसति, इत्यादि ।

यहां 'झय्' ग्रहण इसलिये है किं-भवान् हसति, इत्यादि में न हो ॥ २३९ ॥

३१२-शश्छोऽटि ॥ २४० ॥ ८ । ४ । ६२॥

जो झय् से परे और अट् प्रत्याहार के पूर्व शकार हो, तो उसको छकार आदेश विकल्प करके होता है ।

जैसे—वाक् छेते; वाक् शेते । मधुलिट् छेते, मधुलिट् शेते । त्रिष्टुप् छेते; त्रिष्टुप् शेते, इत्यादि ॥ २४० ॥

३१३-वा.-छत्वममीति वक्तव्यम् ॥ २४१ ॥ महा. ८ । ४ । ६२ ॥

जो अम् प्रत्याहार परे हो, तो भी झय् से परे शकार को छकार आदेश होता है ।

जैसे—तत् श्लोकेन; तच्छ्लोकेन। तत् श्मश्रु; तच्छ्मश्रु, इत्यादि॥ २४१ ॥

३१४-हलो यमां यमि लोपः ॥ २४२ ॥ ८ । ४ । ६३ ॥

हल् से परे यम् का लोप विकल्प करके होता है, जो यम् परे हो तो ।

जैसे—'शय्य्या'—यहां तीन यकार हैं, इनमें से मध्यस्थ यकार का लोप हो कर—शय्या । 'दध्य्यत्र'—यहां भी वैकल्पिक लोप होकर—दध्यत्र, इत्यादि ।

यहां—'हल्' ग्रहण इसलिये है कि—वित्तम्, यहां न हुआ । 'यम् का लोप' इसलिये कहा है कि—अग्निः, यहां लोप न हुआ । और 'यम् परे' इसलिये है कि—शार्ङ्गम्, यहां न हुआ ॥ २४२ ॥

३१५-झरो झरि सवर्णे ॥ २४३ ॥ ८ । ४ । ६४॥

जो सवर्णी झर् परे हो, तो हल् से परे झर् का लोप विकल्प करके होता है ।

जैसे—प्रत्त्त्तम् । अवत्त्त्तम् । यहां चार तकार* होते हैं । तीन प्रथम ही हैं, और एक पीछे द्विर्वचन होने से हो जाता है । उनमें से एक व दो का लोप होकर—प्रत्त्तम्; प्रत्तम् । अवत्त्तम्; अवत्तम् ।

उत्त्थानम्—यहां भी एक तकार का लोप विकल्प करके हो जाता है-उत्थानम्, इत्यादि ।। २४३ ।।

इति हल्सन्धिः ।।

---

* [यहां 'प्र' और 'अव' पूर्वक 'दा' धातु को 'क्त' परे रहने पर "अच उपसर्गात्तः" आख्या. १२१५ सूत्र से 'त' आदेश - 'प्र + दत् + त' दकार को सन्धि. २३५ से तकार होकर प्रत्त्त । फिर (सन्धि. २२२ 'अनचि च' से) द्वितीय तकार को द्विर्वचन होकर चार तकार होते हैं ।]

अथ अयोगवाहसन्धिः

अब इसके आगे 'अयोगवाहसन्धिः' का प्रकरण लिखा जाता है -

३१६-ससजुषो रुः ।। २४४ ।। ८ । २ । ६६ ।।

जो पदान्त सकार और सजुष् शब्द का मूर्द्धन्य षकार है, उसको रु आदेश होता है ।

पदान्त दो प्रकार का होता है । एक तो - अवसान में, अर्थात् जिससे आगे कोई पद वा अक्षर न हो । और दूसरा - उत्तरपद के परे भी पदान्त कहाता है ।

इसमें से जो अवसान में सकार को रु होता है, उसका विषय नामिक पुस्तक में आवेगा । और यह अयोगवाह प्रकरण है, यहां शब्दों की मिलावट दिखलाई जाती है । यह 'रु' आदेश सब दन्त्य सकारान्त शब्दों को होता है, इसलिये 'सजुष्' शब्द के मूर्द्धन्य षकार को रु विधान किया है ।

पदान्त सकार भी दो प्रकार का होता है । एक - स्वरान्त शब्दों से विभक्ति का सकार । और दूसरा - जो प्रथम से ही सकारान्त होते हैं। विभक्ति से सकारान्त, जैसे - पुरुष सु इत्यादि । प्रथम से सकारान्त, जैसे- मनस् पयस्, धनुष्, हविष्, इत्यादि ।। २४४ ।।

अब इस पदान्त सकार को रु आदेश होकर पीछे क्या-क्या कार्य्य होता है, सो क्रम से लिखते हैं -

३१७-एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ।। २४५ ।। ६ । १ । १३१ ।।

ककार और नञ् समास को छोड़, हल् प्रत्याहार परे हो, तो एतत् और तत् शब्द के सु का लोप हो ।

जैसे—स पठति । एष गच्छति, इत्यादि ।

यहां 'ककार का निषेध' इसलिये है कि—एषको गच्छति । सको ब्रूते, यहां न हुआ । 'नञ्' समास में निषेध इसलिये है कि—अनेषो दधाति। असो याति, इत्यादि में न हो । 'हल्' ग्रहण इसलिये है कि—'एषस् + अत्र' = एषोऽत्र । 'सस् + अत्र' = सोऽत्र, यहां 'सु' का लोप न हो ।। २४५ ॥

३१८-स्यश्छन्दसि बहुलम् ॥ २४६ ॥ ६ । १ । १३२ ।।

वैदिक प्रयोगों में हल् प्रत्याहार परे हो, तो त्यद् शब्द के सु का लोप बहुल करके हो ।

जैसे—स्य ते द्युमां इन्द्र सोमः । 'बहुल' ग्रहण से यहां नहीं भी होता- यत्र स्यो निपतेत् ।

यहां 'छन्दसि' इसलिये कहा है कि लोक में न हो - स्यो हसति। स्यो धावति, इत्यादि ।। २४६ ।।

३१९-सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् ।। २४७ ।। ६ । १ । १३३ ।।

जो अजादि उत्तरपद परे हो, तो तद् शब्द के पदान्त सकार का लोप होता है, परन्तु लोप होने से छन्दों के पाद की पूर्ति होती हो तो ।

जैसे— **सेमन्नो अध्वरं यज,** यहां जब - 'सस् - इमम्' पद के परे लोप नहीं पाया था, सो लोप होकर गुण एकादेश हो गया, तब - 'सेमम्' ऐसा हुआ । जो न होता तो नव अक्षरों के होने से पाद भी पूर्ण नहीं होता।

लोक में - **सैष शूद्रो महाबली,** यहां भी - 'सस् + एषस्' इस अवस्था में विभक्ति के सकार का लोप होकर वृद्धि एकादेश हो जाता है ।

यहां 'पादपूरण' इसलिये है कि- **स इव व्याघ्रो भवेत्,** यहां न हो ।।२४७।।

अब इन दो सूत्रों से जहां सकार का लोप नहीं होता, वहां स्वरादि उत्तरपदों के परे रु को क्या-क्या होता है, सो क्रम से लिखते हैं -

३२०-अतो रोरप्लुतादप्लुते ।। २४८।। ६।१।११२।।

जो अप्लुत ह्रस्व अकार से अप्लुत अकार परे हो, तो रु के स्थान में उकार आदेश होता है ।

जैसे—पुरुषर् + अत्र = पुरुषोऽत्र । मनर् + अर्प्पय = मनोऽर्पय, इत्यादि।

'अप्लुत से परे' इसलिये है कि - **सुश्रोता३ अत्र त्वमसि,** यहां उत्वादेश न हो । 'अप्लुत परे हो' इसलिये है कि—**तिष्ठतु पर आ३ग्निदत्त,** यहां न हो ।। २४८ ।।

अब यहां अवर्णान्त वा अन्य स्वरान्त शब्दों से परे 'रु' हो और उत्तरपद में अश् प्रत्याहार, तो क्या होना चाहिये, इस विषय में लिखते हैं -

३२१-भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि ॥२४९॥८।३।१७॥

जो भोस्, भगोस्, अघोस् और अवर्णपूर्वक रु से परे अश् प्रत्याहार हो, तो 'रु' के स्थान में 'य्' आदेश हो जाता है ।

जैसे—भोय् + अत्र = भो अत्र । भगोय् + इह = भगो इह । अघोय् + उत्तिष्ठ = अघो उत्तिष्ठ ।

अकार से परे आकार के पूर्व - पुरुषय् + आगच्छति = पुरुष आगच्छति। आकार से परे आकार के पूर्व - ब्राह्मणाय् + अविदु: = ब्राह्मणा अविदु: ।। २४९ ।।

अब जो 'रु' के स्थान में 'य्' आदेश हुआ है, इसका क्या होना चाहिये, सो लिखते हैं -

३२२-व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य ।। २५० ।। ८ । ३ । १८।।

जो अवर्ण से परे यकार वकार है, उसको लघुप्रयत्नतर आदेश हो, शाकटायन आचार्य के मत में ।

जिसके उच्चारण में बहुत थोड़ा बल पड़े, वह 'लघुप्रयत्नतर' कहाता है । "एचोऽयवायावः" । इस उक्त सूत्र से पदान्त में जो 'अय्' आदि आदेश होते हैं, वे तथा जो पूर्व सूत्र से रु के स्थान में यकारादेश होता है, उन सब यकार वकारों का यहां ग्रहण है ।

पुरुषयागच्छति । पुरुषयिह । ब्राह्मणायविदुः इत्यादि । अय् आदि आदेश- के आसते = कयासते । वायो आयाहि = वायवायाहि । 'श्रियै उद्यतः = श्रियायुद्यतः ।' असौ आदित्यः = असावादित्यः ।

जो यह लघुप्रयत्नतर आदेश होता है सो उदाहरणों में बहुत कम आता है ।। २५० ।।

अब जहां लघुप्रयत्नतर आदेश नहीं होता, वहां क्या होता है, सो दिखलाते हैं –

३२३-लोपः शाकल्यस्य ॥ २५१॥ ८ । ३ । १९॥

जो अवर्ण से परे और अश् प्रत्याहार के पूर्व पदान्त यकार वकार हों, तो उनका विकल्प करके लोप होता है, शाकल्य आचार्य के मत में।

जैसे - पुरुषय् + आगच्छति = पुरुष आगच्छति; पुरुषयागच्छति । ब्राह्मणाय्+ अविदुः = ब्राह्मणा अविदुः; ब्राह्मणायविदुः । कय् + आसते = क आसते; कयासते । गृहय् + आसते = गृह आसते; गृहयासते । वायव् + आयाहि+ वाय आयाहि; वायवायाहि । पादाव् + उच्येते = पादा उच्येते; पादावुच्येते । हरय् + एहि = हर एहि; हरयेहि । विष्णव् + इह = विष्ण इह; विष्णविह, इत्यादि ।। २५१ ।।

३२४-ओतो गार्ग्यस्य ।। २५२ ।। ८ । ३ । २०।।

अश् प्रत्याहार परे हो, तो ओकार से परे रु को य् होता है, उसका नित्य ही लोप होवे ।

'गार्ग्य' का ग्रहण पूजार्थ है । भोय् + अत्र = भो अत्र । भगोय् + इह = भगो इह । अघोय् + इह = अघो इह ।। २५२ ।।

३२५-उञि च पदे ।। २५३ ।। ८ । ३ । २१।।

उञ् पद के परे अवर्ण के आगे जो पदान्त यकार वकार हों, तो उनका नित्य लोप हो जावे ।

जैसे—सय् उ प्राणस्य प्राण: = **स उ प्राणस्य प्राण:** । कय् उ स्विज्जायते पुन: । = **क उ स्विज्जायते पुन:** । कय् उ सन्ति = **क उ सन्ति** । वायव् उ वाति= **वाय उ वाति** । श्रियाय् उ यतते = **श्रिया उ यतते,** इत्यादि ।। २५३ ।।

'सजुष्' आदि शब्दों को रु विधान कर चुके हैं । उस रेफान्त को पदान्त में दीर्घ आदेश हो जाता है । उससे उत्तरपद में जो स्वर होगा, तो रेफ उसमें मिल जावेगा, और जो हल् वर्ण आवेगा तो उसके ऊपर रेफ चढ़ जावेगा ।

स्वर में—सजूरत्र । सजूरिह इत्यादि । परन्तु ऋकार के परे रेफ ऊपर ही चढ़ जाता है—सजूर्ऋषि । वायुर्ऋच्छति, इत्यादि । अग्निर् + अत्र = अग्निरत्र । अग्निर् + आनीयते = अग्निरानीयते, इत्यादि ।।

जो अश् प्रत्याहार में स्वरों से भिन्न वर्ण रहें, तो वहां क्या होना चाहिये, सो लिखते हैं —

३२६-हशि च ।। २५४ ।। ६ । १ । ११३।।

ह्रस्व अकार से परे रु के रेफ को उकार आदेश होता है, जो हश् प्रत्याहार परे हो तो ।

जैसे—'पुरुष + उ + हसति' उकार के साथ गुण एकादेश होकर-पुरुषो हसति, इत्यादि ।। २५४ ।।

३२७-हलि सर्वेषाम् ।। २५५ ।। ८ । ३ । २२।।

हल् प्रत्याहार के परे भो, भगो, अघो और अवर्ण जिसके पूर्व हो, उस यकार का लोप सब आचार्यों के मत से हो ।

भोय् + हसति = भो हसति । भगोय् + हसति = भगो हसति । अघोय् + हसति = अघो हसति । आकारान्त से - पुरुषाय् + हसन्ति = पुरुषा हसन्ति । बालाय् + नन्दन्ति = बाला नन्दन्ति । चन्द्रमाय् + वर्द्धते= चन्द्रमा वर्द्धते, इत्यादि ।

हश्मात्र में इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है । यहां 'हल्' ग्रहण उत्तर सूत्रों के लिये है, क्योंकि यहां 'हश्' प्रत्याहार से ही प्रयोजन है ।। २५५ ।।

जब इकार आदि स्वरों से परे रु हो और हश् प्रत्याहार उत्तरपद में आवे, तो रु का रेफ उत्तर वर्ण के ऊपर चढ़ जाता है जैसे - सजूर्देवेन। यजूर्याति । अग्निर्दहति । वायुर्वाति । गौर्धावति, इत्यादि ।

हश् प्रत्याहार में रेफ भी आता है, उसके परे क्या होना चाहिये, सो लिखते हैं -

३२८-रो रि ।। २५६ ।। ८ । ३ । १४ ।।

जो रेफ के परे रेफ हो, तो पूर्व रेफ का लोप होता है ।

जैसे—प्रातर् + रक्तम् = प्रात रक्तम् । निर् + रक्तम् = नि रक्तम्। गुरुर् + राजते = गुरु राजते ।। २५६ ।।

अब लोप होकर क्या होना चाहिये, सो लिखते हैं -

३२९-ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ॥ २५७ ॥ ६ । ३ । १०९ ॥

जहां रेफ, ढकार का लोप हो, वहां उस रेफ, ढकार से पूर्व अण् को दीर्घ आदेश हो जावे ।

दीर्घ होकर—प्राता रक्तम् । नी रक्तम् । गुरू राजते, इत्यादि ॥ २५७ ॥

३३०-ढो ढे लोपः ।। २५८ ।। ८ । ३ । १३ ।।

ढकार के परे ढकार का लोप हो ।

जैसे—'लिह् + क्त + सु' = 'लिढ् + ढम्' = लिढम् । गुह्+ क्त

+ सु' = 'गुढ् + ढम्' + गुढम्, यहां ढकार के लोप में भी पूर्व अण् को दीर्घ होकर—लीढम् । गूढम्, इत्यादि उदाहरण होते हैं ।। २५८ ।।

अब हलादि वर्णों में खर् प्रत्याहार के परे रु को क्या होना चाहिये, सो लिखते हैं -

३३१-खरवसानयोर्विसर्जनीयः ॥ २५९ ॥ ८ । ३ । १५ ॥

खर् प्रत्याहार के परे और अवसान में रेफ के स्थान में विसर्जनीय आदेश होता है -

जैसे— नदी + जस् + स्रवन्ति = नद्यः स्रवन्ति । पुरुष + सु + शेते = पुरुषः शेते, इत्यादि । स्वाभाविक रेफ — गोः [गीः] स्रवति । धूः सरति ।। २५९ ।।

खर् प्रत्याहारमात्र में विसर्जनीय होकर क्या-क्या होता है, सो आगे लिखते हैं —

३३२-विसर्जनीयस्य सः ॥ २६० ॥ ८ । ३ । ३४ ॥

खर् प्रत्याहार अर्थात् छ, ठ, थ, च, ट, त इन छः वर्णों के परे विसर्जनीय को सकार आदेश होता है । खर् प्रत्याहार में जो अन्य वर्ण रहे, उनके परे दूसरा कार्य कहेंगे ।

पुरुषस् + चेतति = पुरुषश्चेतति । सजूस् + चेतति = सजूश्चेतति। सजूस् + छिनत्ति = सजूश्छिनत्ति । और — वासस् + छादयति = वासश्छादयति, यहां विसर्जनीय को सकार होकर (२१३) सूत्र से श होता है ।

उक्तस्थकारः । पुरषस्तरति । 'उक्तस् + टकारः, = उक्तष्टकारः । 'उक्तस्+ ठकारः' = उक्तष्ठकारः, (२१४) सूत्र से स को ष हो गया है ।।२६०।।

३३३-शर्परे विसर्जनीयः ।। २६१ ।। ८ । ३ । ३५ ।।

शर् जिससे परे हो ऐसा खर् प्रत्याहार परे हो, तो पूर्व विसर्जनीय को विसर्जनीय हो ।

जैसे—पुरुषः क्षाम्यति । पुरुषः त्सरुः, इत्यादि ।। २६१।।

३३४-वा शरि ।। २६२ ।। ८ । ३ । ३६ ।।

शर् प्रत्याहार के परे विसर्जनीय को विकल्प करके विसर्जनीय आदेश हो ।

जैसे—पुरुषः शेते; पुरुषश्शेते । कवयः षट्; कवयष्षट् । धार्मिकाः सन्तु, धार्मिकास्सन्तु, इत्यादि ।। २६२ ।।

३३५-वा.-वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपः ।। २६३ ॥ महा. ८ । ३ । ३६ ।।

जिससे परे खर् प्रत्याहार का वर्ण हो ऐसा जो शर्, उसके पूर्व विसर्जनीय हो, तो विकल्प करके लोप हो ।

जैसे—पुरुषाः ष्ठीवन्ति; पुरुषा ष्ठीवन्ति । वृक्षाः स्थातारः; वृक्षा स्थातारः,* इत्यादि ।

यहां खर्परक शर् प्रत्याहार में तीन-तीन प्रयोग बनेंगे — पुरुषाः ष्ठीवन्ति; पुरुषा ष्ठीवन्ति, पुरुषाष्, ष्ठीवन्ति इत्यादि ।। २६३ ॥

अब खर् प्रत्याहार में सब वर्णों के साथ विसर्जनीय की सन्धि तो दिखला दी, **परन्तु खर् प्रत्याहारस्थ क, ख, प, फ इन चार वर्णों के साथ विसर्जनीय को जो-जो होता है, सो दिखलाते हैं —**

३३६—कुप्वोः ᳲक ᳲपौ च ॥ २६४ ॥ ८ । ३ । ३७ ॥

कवर्ग पवर्ग अर्थात् क, ख, फ, फ इन चार वर्णों के परे विसर्जनीय को विकल्प करके क्रम से जिह्वामूलीय और उपध्मानीय आदेश हों ।

---

* ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के व्याकरण विषय सूत्र ५५ पर महर्षि लिखते हैं — [इसी प्रकार वेद में ''वायवस्थ'' ऐसा पाठ है । अतः सामान्यतः यह सार्वत्रिक नियम है ।]

पुरुष ≍ करोति; पुरुषः करोति । बाल ≍ खिद्यते; बालः खिद्यते । पुरुष ≍ पठति; पुरुषः पठति । बाल ≍ फणति; बालः फणति, इत्यादि जिस पक्ष में जिह्वामूलीय उपध्मानीय आदेश नहीं होते, उस, पक्ष में विसर्जनीय ही रहते हैं ।। २६४ ॥

३३७-सोऽपदादौ ।। २६५ ।। ८ । ३ । ३८ ।।

जो अपदादि अर्थात् एक पद में कवर्ग पवर्ग परे हों, विसर्जनीय के स्थान में सकार आदेश हो जाता है ।

जैसे — यशः+कल्पम् = यशस्कल्पम् । पयः + कल्पम् = पयस्कल्पम्। अयः + पाशम् = अयस्पाशम् । अन्धः + पाशम् = अन्धस्पाशम्, इत्यादि। यहां कल्पप् पाशप् प्रत्ययों के परे रु के विसर्जनीय को सकार हुआ है ।। २६५ ॥

यहां से आगे जो पूर्व सूत्र से जिह्वामूलीय, उपध्मानीय आदेश होते हैं, उन्हीं के अपवाद सब सूत्र समझना —

३३८-वा.-सोऽपदादावनव्ययस्य ।। २६६ ॥
महा. ८ । ३ । ३८ ।।

जो अपदादि कवर्ग पवर्ग में विसर्जनीय को सकारादेश कहा है, वह अव्यय के विसर्जनीय को न हो । जैसे - प्रातः कल्पम् । पुनः कल्प इत्यादि ।। २६६ ।।

३३९-वा.-रोः काम्ये नियमार्थम् ।। २६७ ।।
महा. ८ । ३ । ३८ ।।

जहां काम्यच् प्रत्यय के परे विसर्जनीय को सकारादेश होता है, वहां रु के रेफ का विसर्जनीय को सकारादेश होता है, वहां रु के रेफ का विसर्जनीय हो, तो सकारादेश न हो जैसे —

गी: काम्यति । पू: काम्यति ।। २६७ ।।

३४०-इणः षः ।। २६८ ।। ८ । ३ । ३९ ।।

इण् प्रत्याहार से उत्तर जो विसर्जनीय, उसको मूर्द्धन्य षकार आदेश हो, अपदादि कवर्ग पवर्ग परे हों तो ।

जैसे—हविष्काम्यति । सजूष्कल्पम् । दोष्कल्पम् । हविष्पाशम्, । दोष्पाशम् ।

यहाँ 'अपदादि' की अनुवृत्ति करने का यह प्रयोजन है कि — गुरुः कारयति । गुरुः पाठयति, यहां सकारादेश न हो । 'कवर्ग पवर्ग' की अनुवृत्ति इसलिये आती है कि— सर्पिस्ते । धनुस्ते, यहां मूर्द्धन्य न हो ।।२६८।।

अब यहां से आगे अवर्ण से परे विसर्जनीय को सकार और इण् प्रत्याहार से परे उसको मूर्धन्य आदेश सब सूत्रों में कहेंगे, ऐसा अधिकार समझना-

३४१-नमस्पुरसोर्गत्योः ।। २६९ ।। ८ । ३ । ४० ॥

जो कवर्ग और पवर्ग परे हों, तो गतिसंज्ञक नमस् और पुरस् शब्दों के विसर्जनीय को सकार आदेश होता है ।

नमः + कर्त्ता = नमस्कर्त्ता । नमः + कृत्य = नमस्कृत्य । पुरस्कर्त्ता । पुरस्कृत्य, इत्यादि ।। २६९ ।।

३४२-इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य ।। २७० ॥ ८ । ३ । ४१ ॥

इकार वा उकार जिसकी उपधा में हैं, उस प्रत्ययभिन्न शब्द के विसर्जनीय को षकार होता है ।

जैसे—निर् + कृतम् = निष्कृतम् । निर् + पीतम् = निष्पीतम् । दुर् + कृतम् = दुष्कृतम् । दुर् + पीतम् = दुष्पीतम् । आविस् + कृतम्= आविष्कृतम् । प्रादुस् + कृतम् = प्रादुष्कृतम्, इत्यादि ।

यहाँ 'अप्रत्यय' ग्रहण इसलिये है कि— वायुः पाति, यहां षकार आदेश न हो ।। २७० ।।

३४३-वा.-पुम्मुहुसोः प्रतिषेधः ।। २७१ ॥
महा. ८ । ३ । ४ ।।

पुम् और मुहुस् इन शब्दों में भी अप्रत्यय के विसर्जनीय हैं, यहां इस उक्त, सूत्र से विसर्जनीय को षकाराऽऽदेश न हो ।

जैसे—पुंस्काम । मुहुःकामः, यहां विसर्जनीय को षकार न हो ।।२७१॥

३४४-तिरसोऽन्यतरस्याम् ।। २७२ ।। ८ । ३ । ४२ ॥

गतिसंज्ञक तिरस् शब्द के जो विसर्जनीय हैं, उनको कवर्ग पवर्ग के परे सकारादेश विकल्प करके होता है, पक्ष में विसर्जनीय रह जावेंगे । जैसे—

तिरस्कृतम्; तिरःकृतम् । तिरस्कर्त्ता; तिरःकर्त्ता । तिरस्कृत्य; तिरःकृत्य। तिरस्पिबति; तिरःपिबति ।

'गति' ग्रहण इसलिये है कि तिरःकृत्वा, यहां सकारादेश न हो ।।२७२॥

३४५-द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे ॥ २७३ ॥ ८ । ३ । ४३ ॥

कृत्वसुच् प्रत्यय के अर्थ में वर्त्तमान जो द्वि, त्रि और चतुर् शब्द, इनके विसर्जनीय को षकार आदेश विकल्प करके हो, कवर्ग पवर्ग परे हो तो । जैसे—द्विष्करोति; द्विःकरोति । त्रिष्करोति; त्रिःकरोति । चतुष्करोति; चतुः करोति । द्विष्पठति; द्विःपठति । त्रिष्पठति; त्रिःपठति । चतुष्पठति; चतुःपठति इत्यादि ।

यहां 'कृत्वोऽर्थ' ग्रहण इसलिये है कि — चतुष्कपालम् । चतुष्कण्ठम्। चतुष्पथम्, इत्यादि में विकल्प न हो[1] ।। २७३ ।।

---

१. [अर्थात् पूर्व सूत्र सन्धि. २७० से नित्य षत्व हो जावे । महाभाष्य में इस सूत्र पर —
''कृत्वसुजर्थे षत्वं ब्रवीति कस्माच्चतुष्कपाले मा ।
षत्वं विभाषया भून्ननु सिद्धं तत्र पूर्वेण ।।१॥
इत्यादि पाँच श्लोकों में विशद व्याख्यान किया है]

३४६-इसुसोः सामर्थ्ये ।। २७४ ।। ८ । ३ । ४४ ।।

[यहां विकल्प की अनुवृत्ति आती है ।]

जो सामर्थ्य विदित होता हो, तो कवर्ग पवर्ग के परे विकल्प करके इस् उस् प्रत्ययान्त शब्दों के विसर्जनीय को षकारादेश होता है ।

जैसे—हविष्करोति; हविःकरोति । सर्पिष्करोति; सर्पिःकरोति [ज्योतिष्पश्यति; ज्योतिःपश्यति । यजुष्पठति, यजुःपठति, इत्यादि ।

यहां 'सामर्थ्य' ग्रहण इसलिये है कि—तिष्ठतु सर्पिः करोतु बलमन्नम्, इत्यादिकों में सापेक्ष होने से षकारादेश न हुआ ।। २७४ ॥

३४७-नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य ॥ २७५ ॥ ८ । ३ । ४५ ॥

जो कवर्ग पवर्ग के परे समास में अनुत्तरपदस्थ अर्थात् उत्तरपद में इस् उस् न हों, तो उन इस् उस् प्रत्ययान्त शब्दों के विसर्जनीय को नित्य षकार आदेश हो जावे ।

जैसे—सर्पिष्कुण्डिका । सर्पिष्पात्रम् । धनुष्करः, इत्यादि ।

यहां अनुत्तरपदस्थ' ग्रहण इसलिये है कि—सुसर्पिःपानम् । सुसर्पिःकुण्डिका, इत्यादि में षकारादेश नहीं हुआ ।। २७५ ।।

३४८-अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य ।। २७६ ।। ८ । ३ । ४६ ।।

[समास में] जो अकार से परे अव्यय को छोड़कर अनुत्तरपदस्थ विसर्जनीय को कृ और कमि धातु तथा कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा और कर्णी शब्द परे हों, तो सकार आदेश हो ।

जैसे—अयस्कारः । अयस्कामः । अयस्कंसः । परस्कुम्भः । पयस्कुम्भी, यहाँ [पारि. ३२ वें नियम से] स्त्रीलिङ्ग में भी होता है । पयस्पात्रम् । अयस्कुशा । अयस्कर्णी ।

यहां 'अकार से परे' ग्रहण इसलिये है कि गी:कार: । पू:कार:, यहाँ सकार न हो । 'तपरकरण' इसलिये पढ़ा है कि — भा:काम:, यहां न हो। और 'अव्यय का निषेध' इसलिये है कि — अन्त:करणम् । प्रात:काल: । पुन: करोतु ।'समास' इसलिये है कि — यश: करोति, यहां न हो ।'अनुत्तरपदस्थ' इसलिये है कि — सुवच: काम:, यहाँ न हो ।। २७६ ।।

३४९-अध: शिरसी पदे ॥ २७७॥ ७ । ३ । ४७ ॥

जो समास में पद शब्द परे हो, तो अधस् और शिरस् के अनुत्तर पदस्थ विसर्जनीय को सकार आदेश होता है ।

अधस्पदम् । शिरस्पदम् अधस्पदी । शिरस्पदी ।

यहां 'समास' ग्रहण इसलिये है कि—अध: पदम्, यहां न हो । 'अनुत्तरपदस्थ' ग्रहण इसलिये है कि—परमशिर: पदम्, यहां सकारादेश न हुआ ।। २७७ ॥

३५०-कस्कादिषु च ।। २७८ ।। ८ । ३ । ४८ ।।

जो-जो शब्द कस्क आदि गण में पड़े हैं, उनके विसर्जनीय को यथालिखित सकार वा षकार आदि जानना चाहिये ।

यहां भी एक पद से = परे विसर्जनीय और उत्तरपद में कवर्ग पवर्ग परे लिये जाते हैं ।जैसे—'क: + क:' = कस्क: ।कौतस्कुत: ।भ्रातुष्पुत्र: ।शुनस्कर्ण: सद्यस्काल: । सद्यस्क्री: । साद्यस्क: । कास्कान् । सर्पिष्कुण्डिका । धनुष्कपालम्। बर्हिष्पूलम् । यजुष्पात्रम्, अयस्काण्ड: । मेदस्पिण्ड:, इति ।। २७८ ।।

३५१-छन्दसि वाऽप्राम्रेडितयो: ।। २७९ ॥ ८ । ३ । ४९ ।।

जो प्र और आम्रेडित को छोड़कर कवर्ग पवर्ग परे हों, तो वेद में विकल्प करके विसर्जनीय को सकारादेश होता है ।

जैसे—अयः पात्रम् = अयस्पात्रम् ।

यहां 'प्र और आम्रेडित का निषेध' इसलिये है कि—**इन्द्राय सोमाः प्र दिवो विदानाः** [ऋ. ३ । ३६ । २] । आम्रेडित—पुरुषः पुरुषः परि, इत्यादि में सकारादेश न हुआ ॥ २७९ ॥

३५२-कःकरत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः ॥ २८० ॥ ८ । ३ । ५० ॥

कः, करत्, करति, कृधि, कृत इनके परे वेदों में अदिति शब्द को छोड़ कर सब शब्दों के विसर्जनीय को सकारादेश होता है । जैसे—

विश्वतस्कः । विश्वतस्करत् । यशस्करति । विश्वतस्कृधि । अधस्कृतम् सहस्कृतम्, इत्यादि ।

पूर्वसूत्र से सर्वत्र विकल्प करके प्राप्त था, इसलिये यह सूत्र नियमार्थ किया है । यहाँ 'अदिति का निषेध' इसलिये है कि—**यथा नो अदितिः करत्**, यहां सकारादेश न हुआ ॥ २८० ॥

३५३-पञ्चम्याः परावध्यर्थे ॥ २८१ ॥ ८ । ३ । ५१ ॥

वेदों में जो अधि के अर्थ का परि उपसर्ग परे हो, तो पञ्चमी के विसर्जनीय को सकारादेश होता है ।

जैसे - विश्वतस्परि । दिवस्परि, इत्यादि ।

यहां 'पञ्चमी' का ग्रहण इसलिये है कि—**या गौः पर्येति**, इत्यादि में नहीं होता । 'परि' इसलिये है कि—**लोकेभ्यः प्रजापतिः समैरयत्**, इत्यादि में न हो । 'अध्यर्थ' इसलिये है कि—**दिवः पृथिव्याः पर्योजऽउद्भृतम्** [यजुर्वेद २९ । ५३], इत्यादि में न हो ॥ २८१ ॥

३५४-पातौ च बहुलम् ॥ २८२ ॥ ८ । ३ ॥ ५२ ॥

वेदों में पाति धातु के प्रयोग परे हों, तो कहीं-कहीं पञ्चमी के विसर्जनीय को सकारादेश होता है ।

जैसे—दिवस्पातु । राज्ञस्पातु । वृकेभ्यस्पातु, इत्यादि । कहीं-कहीं नहीं भी होता—परिषद: पातु, इत्यादि ।। २८२ ।।

३५५-षष्ठ्या: पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु ॥ २८३ ॥ ८ । ३ । ५३ ।।

वेदों में जो पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस् और पोष परे हों, तो षष्ठी के विसर्जनीय को सकार आदेश होता है ।

जैसे — वाचस्पति: । दिवस्पुत्राय सूर्याय । दिवस्पृष्ठे । पृथिव्यास्पृष्ठे। तमसस्पारम् । इडस्पदे समिध्यते । सूर्यं चक्षुर्दिवस्पय: । रायस्पोषेण समिषा मदन्त: ।

यहां 'षष्ठी' ग्रहण इसलिये है कि—**मनु: पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्** यहां न हुआ ।। २८३ ॥

३५६-इडाया वा ।। २८४ ।। ८ । ३ । ५४ ॥

जो वेदों में पूर्वसूत्रोक्त के पति आदि शब्द परे हों, तो इडा शब्द की षष्ठी के विसर्जनीय को विकल्प करके सकारादेश होता है ।

जैसे—इडायास्पति: इडाया: पति: इत्यादि ।। २८४ ।।

३५७-अम्नरूधरवरित्युभयथा च्छन्दसि ।। २८५ ।। ८ । २ । ७० ।।

अम्नस्, ऊधस्, अवस् इन शब्दों के सकार को रु आदेश विकल्प करके [अर्थात् पक्ष में रेफ होता है।]

जैसे—अम्नस् + एव = अम्नरेव । ऊधस् + एव = ऊधरेव । अवस्+ एव = अवरेव. इत्यादि ।। २८५ ॥

३५८-अहन् ।। २८६ ।। ८ । २ ।। ६८ ।।

अहन्—शब्द को रु आदेश होता है, पदान्त में ।

अहन् + भ्याम्' = अहोभ्याम् ।। २८६ ।।

इस सूत्र पर यह वार्त्तिक है :

३५९-रुत्वविधावह्नो रूपरात्रिरथन्तरेषूपसंख्यानम् ॥२८७॥ महा. ८ । २ । ६८ ।।

रुत्वविधि प्रकरण में रूप, रात्रि और रथन्तर शब्दों के परे, अहन् शब्द के नकार को रु आदेश होता है ।

जैसे—अहन् + रूपम् = अहोरूपम् । अहन् + रात्रः = अहोरात्रः । अहन् + रथन्तरम् = अहोरथन्तरम् ।। २८७ ॥

३६०-रोऽसुपि ।। २८८ ।। ८ । २ । ६९ ।।

जो सुप् से भिन्न कोई उत्तरपद हो, अहन् शब्द के नकार को र् आदेश होता है ।

इसमें यह विशेष है कि जहाँ रु होता है, वहां उत्व भी होता है, औ जहां र् होता है वहां उत्व नहीं होता । जैसे — 'अहन् + ददाति' = अहर्ददाति । 'अहन् + भुङ्क्ते = अहर्भुङ्क्ते, इत्यादि ।। २८८ ।।

इस पर यह वार्त्तिक है –

३६१-वा.-अहरादीनां पत्यादिषु ।। २८९ ।। महा. ८ । २ । ७० ॥

जो अहन् आदि शब्दों में रेफ होता है, उसके स्थान में एक पक्ष में रेफ को रेफ ही हो जावे, पति आदि शब्द परे हों तो ।

प्रयोजन यह है कि एक पक्ष में रेफ को विसर्जनीय और एक पक्ष में रेफादेश होता है । जैसे — अहर्पतिः, अहःपतिः । गीर्पतिः; गीःपतिः । अहर्कर्म; अहःकर्म्म । इत्यादि ।। २८९ ।।

३६२-वा. छन्दसि भाषायां च प्रचेतसो राजन्युपसंख्यानम् ॥ २९० ॥ ८ । २ । ७० ॥

लौकिक और वैदिक प्रयोगों में प्रचेतस् शब्द के सकार को राजन्य शब्द के परे रु आदेश विकल्प करके होता है, पक्ष में रेफ आदेश हो जावेगा।

जैसे—'प्रचेतस् + राजन्' = प्रचेतोराजन्; प्रचेताराजन् ॥ २९० ॥

और पूर्ववार्तिक से जो तीन शब्दों के परे र् विधान किया है, वह नियमार्थ है कि—'अहर् + रम्यम्' = अहोरम्यम्, यहां र् आदेश न हो ॥

३६३-वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ॥ २९१ ॥ ८ । २ । ७२ ॥

जो पदान्त और अवसान में वसुप्रत्ययान्त और स्रंसु ध्वंसु और अनडुह् शब्द हों, तो उन को दकारादेश होता है ।

वसुप्रत्ययान्त - विद्वस् + आसनम् = विद्वदासनम् । सेदिवस् + आगमनम्= सेदिवदागमनम्, इत्यादि । उखास्रम् + अत्र = उखास्रदत्र । पर्णध्वस् + अत्र = पर्णध्वदत्र, इत्यादि । अनुडुह् + इच्छा = अनुडुदिच्छा । अनडुह् + उल्लङ्घनम् = अनुडुदुल्लङ्घनम्, इत्यादि ॥ २९१ ॥

अब जहां रु के पूर्व अच् को अनुनासिक होता है, उसका प्रकरण लिखते हैं ।

३६४-अत्राऽनुनासिकः पूर्वस्य तु वा ॥ २९२ ॥ ८ । ३ । २ ॥

यह सूत्र अधिकार के लिये हैं ।

जहाँ-जहाँ आगे रु विधान करेंगे वहां-वहां रु के पूर्व वर्ण को विकल्प करके अनुनासिक होगा ॥ २९२ ॥

३६५-आतोऽटि नित्यम् ॥ २९३ ॥ ८ । ३ । ३ ॥

जो वेदों में अट् प्रत्याहार के परे रु से पूर्व आकार हो, तो उसको अनुनासिक नित्य ही हो जावे ।

जैसे—सूर्य वड् महां असि । देवां आसादयादिह ।। २९३ ।।

३६६-अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः ।। २९४।।८।३।४।।

जिस पक्ष में रु से पूर्व अनुनासिक नहीं होता, वहां उससे पूर्व वर्ण को अनुस्वार हो जाता है ।

जैसे—विद्वान्स + न् + चिनोति = विद्वांसंश्चिनोति ।।२९४।।

३६७-वा.-विभाषा भवद्भगवदघवतामोच्चावस्य ।। २९५ ।। ८ । ३ । १ ।।

वेदों में विकल्प करके भवत्, भगवत् अघवत् शब्दों के अन्त को रु और अव भाग को ओकार आदेश होता है ।

जैसे—भवत् + एहि = भो एहि; भवन्नेहि । भगवत् + एहि = भगो एहि; भगवन्नेहि । अघवत् + याहि = अघो याहि; अघवन् याहि, इत्यादि ।। २९५ ।।

अब सुट् प्रकरण को लिखते हैं, जो कि इसी रु प्रकरण से सम्बन्ध रखता है —

३६८-सुट् कात् पूर्वः ।। २९६ ।। ६ । १ ।। १३४ ।।

यह अधिकार सूत्र है ।

यहां से आगे जहां-जहां सुट् का विधान करेंगे, वहां-वहां वह ककार से पूर्व होगा ।। २९६ ।।

३६९-अडभ्यासव्यवायेऽपि[१] ।। २९७ ।। ६ । १ । १३५ ।।

१. [काशिका में इसे सूत्र करके ही पढ़ा है । महाभाष्य के अनुसार, 'सुट् कात्पूर्वः' इस सूत्र पर 'अड्व्यवाय उपसंख्यानम्' तथा अभ्यासव्यवाये च यो दो वार्त्तिक हैं ।]

जिसको सुट् का आगम विधान करें, उसको अट् और अभ्यास के व्यवधान में भी ककार से पूर्व सुट् होवे ।। २९६ ।।

३७०-संपर्य्युपेभ्यः करोतौ भूषणे ।। २९८ ।।

६ । १ । १३६ ।।

भूषण अर्थ में सम्, परि, उप इन उपसर्गों से कृ धातु का कोई प्रयोग परे हो, तो उसके ककार से पूर्व सुट् का आगम होता है ।

जैसे—सम् + करोति = सम् + सुट् + करोति = संस्करोति ।

उक्त सूत्र के अट् के व्यवधान में—सम् + अ + करोत् = समस्करोत्। सम् + अकार्षीत् = समस्कार्षीत् ।

अभ्यास के व्यवधान में—'सम् + चकरतुः' = सञ्चस्करतुः । 'सम्+ चकरुः' सञ्चस्करुः, इत्यादि ।

'परि + सुट् + करोति' = परिष्करोति, जो यहां दन्त्य सकार को मूर्द्धन्य हो जाता है, इसका विषय **'आख्यातिक'** ग्रन्थ के षत्वप्रकरण में लिखा है । 'परि + अ + सुट् + करोत्' = पर्यस्करोत्; पर्यष्करोत्, ये दो प्रयोग षत्व के विकल्प से होते हैं । 'उप + सुट् + करोति' = उपस्करोति । उपस्कारः । उपस्कर्ता उपस्कृतम्, इत्यादि ।। २९८ ।।

अब सम् के मकार को क्या होना चाहिये, सो लिखते हैं :-

३७१-समः सुटि ।। २९९ ।। ८ । ३ । ५ ।।

सुट् परे हो, तो सम् के मकार को रु आदेश हो ।

इस सूत्र के रु आदेश होकर विसर्ग [सन्धि. २५९ से] प्राप्त हुआ, उसका अपवाद यह वार्तिक है —

३७२-वा.-संपुंकानां सत्वम् ।। ३०० ।।

महा. ८ । ३ । ५ ।।

सम्, पुम्, कान् इनके रु को सकार ही होता है ।

रु को सकार किया है, उससे पूर्व वर्ण के ऊपर अनुनासिक और अनुस्वार उक्त सूत्र में समझना ।

अनुनासिक पक्ष में—सँस्स्करोति, संस्करोति, यहां पक्ष में एक सकार का [''समो वा लोपमेक इच्छन्ति'' इस महाभाष्य वचन से] लोप भी हो जाता है । संस्स्कारः सँस्कारः । जहां दो सकारों में एक को द्विर्वचन होता है, वहां तीन सकार भी हो जाते हैं - सँस्स्स्कारः ।

अनुनासिक न हुआ तो—संस्स्कारः, संस्कार, संस्स्स्कारः, ये छः प्रयोग होते हैं ।। २९९—३०० ॥

३७३-समवाये च ।। ३०१ ।। ६ । १ । १३३ ।।

जहां समुदाय अर्थ में कृ धातु हो, वहां सम्, परि, उप इनसे परे ककार के पूर्व सुट् का आगम होता है

जैसे—संस्कृतम् । परिष्कृतम् । उपस्कृतम् । यहां भी पूर्व के समान सब उदाहरण समझना ।। ३०१ ।।

३७४-उपात् प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु ।। ३०२ ।। ६ । १ । १३४ ।।

'प्रतियत्न' अर्थात् जो किसी व्यवहार में अनेक गुणों का आरोपण करना; 'वैकृत' अर्थात् विकार को प्राप्त होना; 'वाक्याध्याहार' अर्थात् जो जानने योग्य अर्थ है, उसके जानने के लिये वाक्य बोलना. इन तीन अर्थों में जो उप उपसर्ग से परे कृ धातु का प्रयोग हो, तो ककार से पूर्व सुट् का आगम हो ।

प्रतियत्न - उपस्कुरुते एधोदकस्य । वैकृत - उपस्कृतं भुङ्क्ते । वाक्याध्याहार- उपस्कृतं ब्रूते, इत्यादि ।। ३०२ ।।

३७५-किरतौ लवने ।। ३०३ ॥ ६ । १ । १३५ ।।

लवन अर्थात् काटने अर्थ में जो कृ धातु का प्रयोग हो, तो उस उपसर्ग से परे उसके ककार से पूर्व सुट् आगम होता है ।

जैसे—'उप + किरति' यहां ककार से पूर्व सुट् होकर—कृषीवल: क्षेत्रमुपस्किरति। अट् के व्यवधान में—उपास्किरत् । अभ्यास के व्यवधान में उपचस्करतु: ।। ३०३ ॥

३७६-हिंसायां प्रतेश्च ।। ३०४ ।। ६ । १ । १३६ ॥

हिंसा अर्थ में उप तथा प्रति उपसर्ग से परे कृ धातु का प्रयोग हो, तो ककार से पूर्व सुट् का आगम होता है ।

जैसे—उपस्किरति जीवान् । प्रतिष्किरति जीवान्, इत्यादि ।। ३०४ ॥

३७७-अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने ।। ३०५ ॥ ६ । १ । १३७ ।।

चतुष्पात् अर्थात् चार पग वाले घोड़ा, हाथी, ऊंट बकरी, गौ आदि और शकुनि अर्थात् मोर, तीतर, मुर्गा आदि, ये कर्त्ता हों, तो अप उपसर्ग से परे कृ धातु के ककार से पूर्व सुट् का आगम होता है, करोदना अर्थ सूचित होता हो तो ।। ३०५ ॥

३७८-वा. किरतेहर्षजीविकाकुलायकरणेष्विति वक्तव्यम् । ।। ३०६ ।। महा. ६ । १ । १३७ ।।

हर्ष—आनन्दित होना, जीविका — कुछ प्राप्ति की इच्छा करना, कुलायकरण- किसी का आश्रय लेना, इन तीन अर्थों में उक्त सुट् का आगम होता है ।

हर्ष—अपस्किरते* वृषो हृष्ट:—बैल जब आनन्दयुक्त होते हैं तो सींगों

---

* [अत्र किरतेहर्षजीविकेति वार्त्तिकेनात्मनेपदमित्यप्यवधेयम् । अन्यत्र तु अपकिरति कुसुमम्'' ।।]

से भूमि को करोदा करते हैं ।

जीविका—अपस्किरते कुक्कुटो भक्ष्यार्थी—मुरगे क्षुधातुर होकर अपनी चोंच से भूमि को करोदा करते हैं ।

कुलायकरण—अपस्किरते श्वाऽऽश्रयार्थी—कुत्ता आश्रय अर्थात् शरण चाहता हुआ भूमि को करोदता है, इत्यादि ।। ३०६ ॥

३७९-कुस्तुम्बुरूणि जातिः ।। ३०७।। ६। १। १३८ ॥

यहाँ जाति अर्थ में कुस्तुम्बुरु शब्द के तकार से पूर्व को सुट् का आगम निपातन किया है ।

'कुस्तुम्बुरु'[१] किसी औषधि का नाम है, उसके फल—कुस्तुम्बुरूणि फलानि ।

यहां 'जाति' ग्रहण इसलिये है कि—कुस्तुम्बुरूणि फलानि, यहां सुट् न हुआ [परन्तु निपातित है ।] ।। ३०७ ।।

३८०-अपरस्पराः क्रियासातत्ये ।।३०८।।६ ।१ । १३९ ॥

क्रिया के निरन्तर होने में 'अपरस्पराः' यह शब्द निपातन किया है। अपरस्पराः पठन्ति- निकृष्ट और उत्तम विद्यार्थी लोग निरन्तर पढ़ते हैं ।

---

१. ['कुस्तुम्बुरु' धनिये को कहते हैं, "कुस्तुम्बरू व धान्यकमित्यमरः" और देखिये भावप्रकाश निघण्टु में इसे धनिये के नामों में लिखा है: -

"धान्यकं धानकं धान्यं धाना धानेयकं तथा ।

कुनटी धेनुका छत्रा 'कुस्तुम्बरू' वितुन्नकम् ।।" हरीतक्यादि वर्ग ।। इसे आंग्ल भाषा Corandrum Sativum या Coriander Seed बंगाली-मराठी में धने, गुजराती में धाणा या कोथमीरं कहते हैं । यह सोंफ के समान उष्ण और रेचक नहीं प्रत्युत शीत, मूत्रल, दाहर तथा तृष्णाशामक द्रव्य है। मसालों में पढ़ता है । इसे सभी जानते हैं । काशिकाकार ने भी यही अर्थ किया है ।]

यहां 'सातत्य' ग्रहण इसलिये है कि—अपरपरा गच्छन्ति—अनियम से चलते हैं । यहां सुट् न हुआ ।। ३०८ ।।

३८१-वा.-समो हिततततयोर्वा लोपः ।। ३०९ ।।

महा. ६ । १ । १३९ ।।

हित और तत शब्द के परे सम् के मकार का लोप विकल्प करके होता है ।

इसी सतत शब्द से 'सातत्य' बनता है । जहां लोप नहीं होता वहां मकार को अनुस्वार होकर विकल्प से [सन्धि. ११८ से] परसवर्ण भी हो जाता है ।।३०९।।

३८२-वा.-समतुमुनोः कामे लोपो वक्तव्यः ।। ३१०।।

महा. ३ । १ । १३९ ।।

जो काम शब्द परे हों, तो सम् और तुमुन् प्रत्यय के मकार का लोप होता है ।

'सम् + कामः' = सकामः ।। 'भोक्तुम् + कामः' = भोक्तुकामः' इत्यादि ।।३१०।।

३८३-वा.-अवश्यमः कृत्ये लोपो वक्तव्यः ।। ३११।।

महा. ६ । १ । १३९ ।।

जो कृत्य प्रत्ययान्त शब्दों के पूर्व अवश्यम् शब्द हो, तो उसके मकार का लोप हो जावे ।

अवश्यम् + भाव्यम्' = अवश्यभाव्यम् । अवश्यालाव्यम्, इत्यादि ।

इन वार्तिकों का यहां प्रसङ्ग नहीं था, परन्तु इसी सूत्र पर थे, इसलिये लिख दिये हैं ।। ३११।।

३८४-गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु ।। ३१२ ।। ६ । १ । १४० ।।

सेवित, असेवित और प्रमाण अर्थ का वाचक 'गोष्पदम्' यह निपातन किया है ।

सेवित—गोष्पदो देश: । असेवित—अगोष्पदमरण्यम् । प्रमाण - गोष्पदपूरं वृष्टो मेघ: ।

यहां इन अर्थों का ग्रहण इसलिये है कि—'गो: पदम्' = गोपदम्, यहां सुट् न हुआ । और इन अर्थों में ऐसा विग्रह होना चाहिये - **गाव: पद्यन्ते प्राप्यन्ते यत्र तत् गोष्पदम्** ।। ३१२ ।।

३८५-आस्पदं प्रतिष्ठायाम् ।। ३१३।। ६। १। १४१॥

प्रतिष्ठा अर्थ में 'आस्पदम्' यह निपातन किया है ।

यहां 'प्रतिष्ठा' ग्रहण इसलिये है कि-**आपदमप्रतिष्ठां प्राप्तो देवदत्त:**, यहां न हुआ ।। ३१३ ।।

३८६-आश्चर्यमनित्ये ॥ ३१४॥ ६ । १ । १४२ ॥

अनित्य अर्थात् जो कभी-कभी हो सर्वदा न हो, इस अनित्य अर्थ में 'आश्चर्य्यम्' यह निपातन किया है ।

'आ+चर्यम् यहां चकार से पूर्व सुट् हो जाता है - आश्चर्यमिदं कर्म। 'अनित्य' ग्रहण इसलिये है कि — आचर्य्यं सत्यम्, यहां न हुआ क्योंकि सत्य का आचरण नित्य ही करना चाहिये ।।३१४॥

३८७-वर्चस्केऽवस्कर: ।। ३१५।। ६ । १ । १४३ ॥

वर्चस्क अर्थात् अन्न के मल अर्थ में 'अवस्कर:' यह निपातन किया है। यहाँ 'वर्चस्क' ग्रहण इसलिये है कि- अवकर:; यहां न हुआ ।। ३१५ ।।

३८८-अपस्करो रथाङ्गम् ।। ३१६ ।। ६ । १ । १४४ ॥

रथ के अङ्ग अर्थात् अवयव अर्थ में 'अपस्कर:' यह शब्द सुट् सहित निपातन किया है ।

यहां 'रथाङ्ग' ग्रहण इसलिये है कि- अपकरः, यहां न हुआ ।।३१६ ।।

३८९-विष्किरः शकुनिर्विकिरो वा ।। ३१७ ।। ६ । १ । १४५ ।।

शकुनि अर्थात् पक्षी अर्थ में विपूर्वक किर शब्द के ककार से पूर्व सुट् का आगम विकल्प करके निपातन किया है ।

विष्किरः, विकिरः, दोनों पक्षिविशेष के नाम है ।। ३१७ ।।

३९०-ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे ॥ ३१८ ॥ ६ । १ । १४६ ॥

वैदिक शब्दों में ह्रस्व से परे चन्द्र हो, तो उसके चकार से पूर्व सुट् का आगम होता है ।

सुश्चन्द्रो युष्मान् । 'सु + चन्द्र:' = सुश्चन्द्रः ।

'ह्रस्व से परे इसलिये कहा कि—पराचन्द्रः, इत्यादि में न हुआ। 'उत्तरपद' ग्रहण इसलिये है कि समास में ही सुट् का आगम हो । जैसे—शुक्रमसि चन्द्रमसि'; यहां न हुआ ।। ३१८ ।।

३९१-प्रतिष्कशश्च कशेः ॥ ३१९ ॥ ६ । १ । १४७ ॥

यहां प्रतिपूर्वक कश् धातु का 'प्रतिष्कश:' यह शब्द निपातन किया है ।

'प्रति+कश:' = प्रतिष्कशः, यहां ककार से पूर्व सुट् और सकार को मूर्द्धन्यादेश निपातन से हुआ है ।।३१९ ॥

३९२-प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी ।। ३२० ।। ६ । १ । १४८ ॥

ऋषि अर्थ में 'प्रस्कण्वः; हरिश्चन्द्रः' ये दोनों शब्द सुट् आगम के साथ निपातन किये हैं ।

अर्थात् ये दोनों ऋषि के नाम है । जहाँ और किसी के नाम होंगे वहां सुट् न होगा, इत्यादि ।। ३२० ।।

३९३-मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः ।। ३२१ ।। ६ । १ । १४९ ।।

'मस्करः' बांस की लकड़ी, और 'मस्करी' उसको धारण करने वाला संन्यासी ये दोनों शब्द वेणु और परिव्राजक अर्थ में निपातन किये हैं ।

जहां इनसे अन्य अर्थ हो वहां 'मकरः' - धूर्तता, और 'मकरी' - धूर्त मनुष्य का नाम जानना ।। ३२१ ।।

३९४-कास्तीराजस्तुन्दे नगरे ।। ३२२ ।। ६ । १ । १५० ।।

'कास्तीर' और 'अजस्तुन्द' ये दो शब्द नगर अर्थ में निपातन किये हैं । अर्थात् किसी नगर के नाम हों, वहां इन दो शब्दों के तकार से पूर्व सुट् होता है ।

कास्तीरं नाम नगरम् । अजस्तुन्दं नाम नगरम् । अन्य अर्थों में - कातीरम् । अजतुन्दम्, ऐसा ही रहेगा ।। ३२२ ।।

३९५-पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् ।। ३२३ ।। ६ । १ । १५१ ।।

जहां 'पारस्कर' आदि शब्द संज्ञा अर्थात् किसी के नियत नाम होते हैं, वहां इन में सुट् का आगम किया है ।

जैसे—पारस्करः—किसी देश का नाम है । अन्यत्र-पारकरः । कारस्करः —किसी वृक्ष[1] का नाम है । अन्यत्र—कारकरः । रथस्पा—किसी नदी का

---

१. कुचले के वृक्ष

नाम है । अन्यत्र—रथपा । किष्कुः—एक हाथ वा वितस्ति भर नाप का नाम है । अन्यत्र—किकुः । किष्किन्धा—किसी गुफा का नाम है । अन्यत्र—किकिन्धा ।। ३२३ ।।

३९६-वा.-तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च ।। ३२४॥ महा. । ६। १। १५१॥

चोर और देवता अर्थ में तत् और बृहत् शब्द से कर और पति शब्द यथासंख्य परे हों, तो इनको सुट् का आगम और तत् तथा बृहत् शब्द के अन्त्य तकार का लोप भी हो जावे ।

जैसे—तत् + करः यहां तकार का लोप और सुट् होकर—तस्करः यह नाम चोर का है । तथा बृहत् + पतिः यहां सुट् और तलोप होकर-बृहस्पतिः, परमात्मा का वा वेदपारग ब्रह्मर्षि का नाम है ।। ३२४ ।।

३९७-वा.-प्रात्तुम्पतौ गवि कर्त्तरि ।। ३२५।। महा. । ६ । १ । १५१ ।

प्र उपसर्ग से परे तुम्प धातु का प्रयोग और इस धातु का कर्त्ता गौ हो, तो सुट् होता है ।

'प्र + तुम्पति' = प्रस्तुम्पति गौः, इत्यादि ।

यहां 'गौ कर्त्ता' इसलिये कहा है कि—प्रतुम्पति सिंहः, यहां न हुआ ।। ३२५ ।।

३९८-वा.-प्रायस्य चित्तिचित्तयोः सुडस्कारो वा ।। ३२६॥ महा. ६। १। १५१॥

जो प्राय शब्द से परे चित्ति और चित्त शब्द हो, तो सुडागम अथवा प्राय शब्द को अस् आदेश हो जावे ।

प्राय + चित्तिः = प्रायश्चित्तिः । प्रायः + चित्तम् = प्रायश्चित्तम् ।

और इस सूत्र के महाभाष्य में यह भी लिखा है कि जहां किसी सूत्र वा वार्त्तिक से सुट् विधान न किया हो, और वेदादि सत्य शास्त्रों में देखने में आवे, तो उसको पारस्करप्रभृति गण के भीतर ही जानों, क्योंकि पारस्करप्रभृति आकृतिगण है ।। ३२६ ।।

इति सुट् प्रकरणम् ।।

३९९-पुमः खय्यम्परे ।। ३२७॥ ८। ३। ६॥

अम् प्रत्याहार जिससे परे हो ऐसा खय् प्रत्याहार परे हो, तो पुम् शब्द के मकार को रु आदेश होता है ।

जैसे—'पुम् + कामा' यहां ककार तो खय् प्रत्याहार में और उससे परे जो आकार वह अम् प्रत्याहार में गिना जाता है : पुँस्कामा; पुँस्स्कामा; पुंस्कामा पुंस्स्कामा । पुँस्पुत्रः; पुँस्स्पुत्रः; पुंस्पुत्रः; पुंस्स्पुत्रः । पुँश्चली, पुँश्श्चली; पुंश्चली; पुंश्श्चली; इत्यादि ।

'खय्' ग्रहण इसलिये है कि—पुन्दासः' यहां न हुआ । और 'अम्परे' ग्रहण इसलिये है कि—पुंक्षीरम्, यहां न हुआ ।

यहां एक पक्ष में सकार को द्विर्वचन हो जाता है । इस प्रकरण में रु का अधिकार है । परन्तु पुम् शब्द को उक्त संपुका. (सन्धि ३००) इस वार्त्तिक से सकारादेश इसलिये होता है कि कवर्ग पवर्ग के परे विसर्जनीय को जिह्वामूलीय और उपध्मानीय आदेश कहे हैं, वे न हों ।। ३२७ ।।

४००-वा.-नश्छव्यप्रशान् ।। ३२८॥ ८ । ३ । ८ ।।

प्रशान् शब्द को छोड़ के पदान्त नकार को रु आदेश होता है, जो छव् प्रत्याहार से परे अम् प्रत्याहार हो तो ।

और पूर्व सूत्र [सन्धि. २९३, २९४] से रु से पूर्व वर्ण को अनुनासिक और अनुस्वर हो जाते है । जैसे—'भवान् + छिनत्ति'—नकार को रु, रु को विसर्जनीय, विसर्जनीय को सकार, सकार को शकार होकर—भवाँश्छिनत्ति; '

भवांश्छिनत्ति । 'भवान् + चेतति' = भवाँश्चेतति; भवांश्चेतति । 'सन् + च'= सँश्च; संश्च । 'भवान् + टीकते' = भवाँष्टीकते; भवांष्टीकते । 'भवान् + तर्पयति' ।। भवाँस्तर्पयति; भवांस्तर्पयति, इत्यादि ।

यहां 'प्रशान् का निषेध' इसलिये है कि—प्रशाञ् छिनत्ति । प्रशाञ् चेतति, यहां रु आदेश न हुआ । 'छव्' ग्रहण इसलिये है कि—भवान् वदतु, यहां न हुआ। 'अम्पर' ग्रहण इसलिये है कि—भवान् त्सरति, यहां न हुआ ।।३२८॥

४०१-उभयथर्क्षु ।। ३२९॥ ८ । ३ । ८ ।।

पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्त रु आदेश का इस सूत्र से विकल्प किया है ।

अम्परक छव् प्रत्याहार के परे ऋग्वेद में नकारान्त पद के नकार को रु आदेश हो विकल्प करके ।

जैसे—तस्मिँस्त्वा दधाति । जिस पक्ष में रु नहीं होता वहां नकार बना रहता है । तस्मिन्त्वा दधाति, इत्यादि ।। ३२९ ॥

४०२-दीर्घादटि समानपादे ।। ३३०।। ८ । ३ ।। ९ ॥

दीर्घ से परे पदान्त नकार को अट् प्रत्याहार के परे समानपाद अर्थात् एकपाद में रु आदेश, हो, ऋग्वेद में विकल्प करके ।

जैसे—'जनाँ अचुच्यवीतन'—यहां रु को यकार होके लोप [सन्धि. २४९ और २५१ से] चुच्यवीतन—यहां लोप न होने से अकार में रेफ मिल गया।

'विकल्प' ग्रहण इसलिये है कि—आदित्यान् याचिषामहे, यहां रु आदेश न हुआ ।

रु के पूर्व [को] अनुनासिक नित्य होता है, सो लिख चुके हैं परन्तु वह दीर्घ आकार को ही नित्य होगा, ईकार ऊकार को तो विकल्प करके होगा—परिधी ँरति,; परिधींरति । वसूँरिह; वसूंरिह । त्वमग्ने वसूंरिह, रुद्रा आदित्यां उत, इत्यादि ।। ३३० ।।

४०३-नॄन् पे ।। ३३१ ।। ८ । ३ । १० ।।

जो पकारादि उत्तरपद परे हो, तो नॄन् शब्द के नकार को 'विकल्प करके रु आदेश होता है ।

अन्य कार्य्य सब पूर्व के तुल्य जानना । जैसे—नॄँः पिपर्ति नॄँ⌣पिपर्त्ति; नॄः पिपर्त्ति; नॄ⌣पिपर्त्ति; एक पक्ष में—नॄन्—पिपर्त्ति, इत्यादि ।

यहां 'पकारादि' ग्रहण इसलिये है कि—नॄन् भोजयति, यहां कुछ भी विकार नहीं होता है ।।३३१।।

४०४-स्वतवान् पायौ ।। ३३२ ।। ८ । ३ । ११ ।।

पायु शब्द परे हो तो स्वतवान् शब्द के नकार को रु आदेश विकल्प करके होता है ।

जैसे—**भुवस्तस्य स्वतवाः पायुरग्ने । स्वतवान् पायुः,** इत्यादि । यहां सब कार्य पूर्ववत् होते हैं ।। ३३२ ।।

४०५-कानाऽऽम्रेडिते ।। ३३३ ।। ८ । ३ । १२ ।।

आम्रेडित अर्थात् द्वितीय कान् शब्द परे हो, तो कान् शब्द के नकार को रु आदेश होता है ।

जैसे—'कान्+कान्'—यहां रु होकर ''संपुंकानां सत्वम्' [सन्धि ३००] इस वार्त्तिक से जिह्वामूलीय और विसर्जनीय को बाधकर सकार ही हो जाता है—कांस्कान् ।। ३३३ ।।

इतीरितस्सन्धिविधिं महामुने -
निशम्य सन्धेर्विषयस्सतां मुदे ।
सुखेन तच्छास्त्रप्रवृत्तयेऽनया
मयार्यया कल्पितयार्यभाषया ।। १ ।।

नगगुणाङ्कविधुप्रमिते सरे
शरतिथावथ मार्गसिते दले ।
विधुदिने निगमप्रथमाङ्गज —
प्रथितवैदिकयन्त्रविनिर्गतः ।। २ ।।[१]

इति श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वती-
प्रणीतार्य्यभाषाविवृत्तिसहित-
स्सन्धिविषयस्समाप्तः ।।

---

१. [संवत् १९३७ (सन् १८८१) में प्रकाशित 'सन्धिविषय' के प्रथम संस्करण में यह श्लोक भी मिलता है । इस ''द्रुतविलम्बित'' वृत्त में 'सन्धिविषय' के प्रकाशनकाल का दिग्दर्शन है । अत एव उपयोगी होने से इसे यहां दिया जा रहा है ।

इसका आर्यभाषा में अर्थः-

''संवत् १९३७ मार्गशीर्ष शुक्लपक्षपञ्चमी सोमवार के दिन वेदों के प्रथमाङ्गज अर्थात् मुख्याङ्गभूत व्याकरणशास्त्र से उत्पन्न यह 'सन्धिविषय' सुप्रसिद्ध वैदिक यन्त्रालय' से प्रकाशित हुआ ।। १ ।।]''

सं. ।।

लेज़र टाइप सेटिंग - **जैनको कम्प्यूटर,** 273/17 जाटियावास, मदार गेट, अजमेर

सूचना
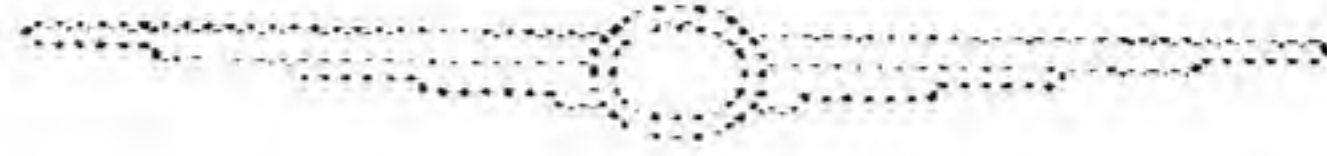
महर्षि श्री स्वामी दयानन्दजी सरस्वती कृत समस्त पुस्तकें केवल वे ही प्रामाणिक हैं, जो कि वैदिक-यन्त्रालय अजमेर द्वारा मुद्रित होती हैं। यह यन्त्रालय श्री स्वामीजी के करकमलों द्वारा ही स्थापित किया हुआ है। इसकी स्वामिनी महर्षिजी की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा है। यहीं पर महर्षिजी के समस्त हस्तलिखित ग्रन्थ सुरक्षित रखे हुये हैं, जिनसे मिलान कर ग्रन्थों का मुद्रण होता है। अत: जो महानुभाव श्री स्वामी दयानन्दजी सरस्वती कृत पुस्तकें, उसी वास्तविक रूप में, जैसी कि महर्षिजी ने लिखी हैं। और जिसमें किसी प्रकार का परिवर्तन या परिवर्धन अदल-बदल नहीं किया गया है, खरीदना चाहते हैं, तो उन्हें चाहिये कि वे वैदिक यन्त्रालय में छपी हुई पुस्तकें ही खरीदें। किसी अन्य संस्था द्वारा प्रकाशित या कहीं अन्यत्र मुद्रित हुई न खरीदें।

मन्त्री -

परोपकारिणी सभा

आर्यसमाज के नियम

१. सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदिमूल परमेश्वर है ।

२. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है ।

३. वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है । वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना ।

७. सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये ।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये ।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये ।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें